उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो ।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—३ मार्च—१९८४ अंक—३

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा । निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा' ।।

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सह संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें ।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

गरम घी में कच्ची पूड़ी छोड़ने पर 'कल्-कल्' की आवाज होती है । पर पूड़ी जैसे-जैसे पकती जाती है वैसे-वैसे आवाज कम होती जाती है, और जब वह पूरी तरह पक जाती है तब तो आवाज बिलकुल ही बन्द हो जाती है । इसी तरह, थोड़ा-सा ज्ञान मिलने पर मनुष्य खूब व्याख्यान देने और प्रचार करने लगता है, किन्तु पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सारा बाह्य आडम्बर समाप्त हो जाता है ।

(२)

राधा-कृष्ण अवतार थे इस बात पर कोई विश्वास रखे या न रखे, इसमें कोई हर्ज नहीं । ईश्वर के नररूप धारण कर अवतार लेने पर कोई विश्वास रखे या न रखे, परन्तु ईश्वर के प्रति तीव्र अनुराग के लिए सभी को प्रयत्न करना चाहिए—यह अनुराग अत्यन्त आवश्यक है ।

(३)

अगर तुम्हें पागल ही बनना है तो संसार के विषयों के लिए पागल न बन ईश्वर के लिए पागल बनो ।

(४)

दाद को खुजलाते समय तो आराम मालूम होता है पर बाद में उस जगह असह्य जलन होने लगती है । संसार के भोग भी ऐसे ही हैं—शुरू-शुरू में तो वे बड़े ही सुखप्रद मालूम होते हैं परन्तु बाद में उनका परिणाम अत्यन्त भयंकर और दुःखमय होता है ।

श्रीरामकृष्ण-अवतरण

—श्रीसारदा तनय
रामकृष्ण मठ, नागपुर।

वैकुण्ठ छोड़ आज हरि आए धराधाम में ।
कामारपुकुर ग्राम में, कामारपुकुर ग्राम में ॥

मगन हुआ जगत आज रामकृष्ण-नाम में ।
कामारपुकुर ग्राम में, कामारपुकुर ग्राम में ॥

शुद्ध दूज की तिथि है, फागुन का मास ।
प्रकट हुए परब्रह्म करन मोहनाश ॥
सुजन-परित्राण और दुष्टदमन काम में ॥

खुदीराम चंद्रमणी धन्य हुए आज ।
दीन की कुटीर में पधारे महाराज ॥
आनंद का अंत नहीं सतत अष्टजाम में ॥

सत्यधर्मरक्षक प्रभु वे युगावतार ।
धर्मग्लानि दूर करत आके बार बार ॥
भेद नहीं रामकृष्ण, कृष्ण और राम में ॥

सम्पादकीय सम्बोधन
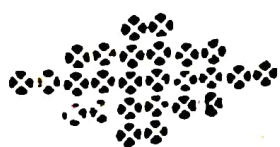
चलो मन रामकृष्ण की ओर

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

आज से एक सौ उनचास वर्ष पूर्व भारत की मिट्टी पर एक महा विलक्षण, एक परम चमत्कारपूर्ण घटना घटी थी। सन् १८३६ ई० की १८ फरवरी फाल्गुन शुक्ल द्वितीया। शिशिर की प्राण लेवा ढंढ़ समाप्त हुई। शीतल मंद समीर बहने लगा। पेड़ों में नथी अरुणाभ कोंपलें फूटने लगीं। कलियाँ चटखने लगीं। भौंरे गूँजने लगे। चारों ओर सौरभ-सुगंध से भरकर धरती महमहा उठी। सूरज अपनी सुनहली किरणों के अबीर-गुलाल लुटाने लगा। नदियों-निर्झरों की जल-धाराओं से संगीत की लहरियाँ ध्वनित होनें लगीं। कोयल कूकने लगी। आम और महुओं के वृक्षों में मादकता भरी मंजरियाँ फूटने लगीं। स्वर्ग में पितरगण मुदित होने लगे, और देवगण नृत्य करने लगे।

यह स्वाभाविक ही था। उस दिन भारत की मिट्टी पर, बंगाल के एक ठेठ ग्राम कामारपुकुर (कामारि पुष्कर) में; एक परम देवता का, परमात्मा का, साक्षात् ईश्वर का, अवतरण जो होना था! उनके अवतरण का सारा परिवेश ही मानो सूचित कर रहा था कि धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक दृष्टि से पराभव के शीत से भरे भारत के गहन अंधकार में, एक नव वसंत का आगमन होनेवाला है, एक अभिनव चन्द्रोदय होनेवाला है जो भारत में ही नहीं; समग्र विश्व में एक नयी जीवन दृष्टि, एक अभिनव धर्म-जीवन, एक नूतन चेतना, एक रासायनिक संस्कृति की मनोरम शीतल किरण विकीर्ण कर विश्व-मानवता का सनातन-ताप हरने में सफल-समर्थ होगा। और अवतरण हुआ। अवतरण हुआ उसदिन गदाधर का—भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का जिनकी पूजा-अर्चना आज विश्व के असंख्य नर-नारी कर अपने चित्त में शीतल शान्ति और परम विश्राम का अनुभव करते हैं।

आप में से अनेक मित्र यह प्रश्न कर सकते हैं कि आज से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व अवतरित हुए किसी परम पुरुष का स्मरण कर हमें क्या लाभ? क्यों हम अतीत के इन महापुरुष का आज ध्यान करें? इससे हमें क्या मिलने वाला है? हम आज जिन समस्याओं से घिरे हुए हैं उनके सामाधान में वे परम पुरुष कौन-सी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकेंगे? क्या प्रयोजनीयता है हमारे जीवन के जटिल, गुत्थियों से भरे संदर्भ में उनकी?

आप यह भी पूछ सकते हैं कि श्रीरामकृष्णदेव ने प्रत्यक्ष रूप से भारत की आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा। हम आज भी अशिक्षा, जातिवाद की संकीर्णता, खाद्यान्न में मिलावट, हिंसा, भ्रष्टाचार और कितने ही अन्य प्रकार की कुरीतियों तथा विसंगतियों से घिरे हुए हैं। इन विषयों में श्रीरामकृष्ण के विचारों से कौन-सी प्रेरणा हमें मिल सकती है? हम आज निराशा के जिस अंधकार में डूबकर हाहाकार कर रहे हैं उससे मुक्त होने का कौन-सा मार्ग श्रीरामकृष्ण ने दिखलाया है?

आपके प्रश्न स्वाभाविक होंगे। हमें निश्चय ही इन पर विचार करना चाहिए।

हमें एक बात का स्मरण रखना होगा। अवतार-पुरुष की लीला लोक-मंगल और लोक-शिक्षा के लिए ही

होती है। धर्म (समाजिक, वैयक्तिक, सांस्कृतिक, भौतिक और नैतिक सभी अर्थों में) की ग्लानि को दूर कर उनके सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान के लिए ही होती है। वस्तुतः अवतार पुरुष की लीला काफी रहस्यपूर्ण एवं गंभीर-गूढ़ अर्थ लिये होती है। वे जिन्हें शब्दों से नहीं कहते उनकी ओर अपने मौन से या अपने आचरण से संकेत कर देते हैं। उनका अनुकरण कर हम सहज ही अपने को सँवार लेते और धन्यता को उपलब्ध होते हैं।

सूरज किसी को विस्तर त्यागने के लिए हाँक नहीं लगाता, पुकार नहीं करता। वह तो केवल अपनी अनन्त अजस्र किरणों से पूरब के आकाश में अंधकार की छाती चीरकर जगमगा उठता है। और लो! इतने से ही सारे विश्व में एक अनन्त ऊर्जा का, निरालस्य का, चेतना का संचार हो जाता है। पक्षी चहचहा उठते हैं। फूल खिल पड़ते हैं, हम विस्तर छोड़कर अपने कर्मों में लग जाते हैं। सारा जगत ही कर्म पथ पर दौड़ पड़ता है।

सावन की घटा चुपचाप वरस जाती है। किसी से कुछ कहती नहीं। और लो! किसान खेतों में हल-बैल लेकर निकल पड़ते हैं—बीज बोने। माली उद्यानों में फल-फूल के पौधों को लगाने लगते हैं। कालिदास मेघदूत लिखने लगते हैं। चंडीदास और विद्यापति सरस गीतों की रचना करने लगते हैं। अजंता और एलोरा की गुफाओं में मनोरम मूर्त्तियाँ और नयनाभिराम चित्र उत्कीर्ण होने लगते हैं। आनन्द की हाट पसर जाती है।

हिमालय अपनी ऊँचाई में मौन खड़ा रहता है। निस्पंद—निःशब्द। और उसका कोई खंड, कोई अंश गल कर वह जाता है। और लो! चमत्कार हो गया। धरती पर गंगा उतर गयी। तरलतर तरंगों वाली गंगा। सींचो अपने सूखे खेतों को। उगाओ हरी-भरी फसलें। नहाओ उसमें ऊब-डूब कर। जुड़ाओ अपने पिपासित प्राणों को। पार हो जाओ भव-सागर से। गाओ—'कत सुख-सार पाओल तुअ तीरे।' गंगा कुछ कहती नहीं। वह तो मात्र प्रवाहित होती है।

और संध्या! एक उदास, शान्त, स्निग्ध, किसी स्वर्ग लोक से बिछुड़ी देवबाला-सी संध्या नीरव-निःस्वर उतरती है और हम सब जगन्माता के विराट् स्नेहांचल में लिपट-सिमट कर शय्या-शायी हो जाते हैं—सभी कर्मों, सभी कोलाहलों, सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर।

ऐसा ही होता है महापुरुषों का जीवन! बड़े रहस्य होते हैं उनके आचरणों के, उनकी लीलाओं के। उनमें शब्द कम होते हैं, अर्थ-विस्तार अधिक होता है। ऐसा ही था श्रीरामकृष्ण देव का जीवन। एक शान्त-स्निग्ध, पावन गंगा की धारा के समान—अनवरत प्रवहमान और अनन्त अर्थवान।

हमारी आज क्या स्थिति है? हम में जो अनेक कुरीतियाँ दीख पड़ती हैं उनका मूल कारण यह है कि हम एक उत्तानपाद की संस्कृति में जी रहे हैं। आप सब जानते हैं कि राजा उत्तानपाद की दो पत्नियाँ थीं—सुरुचि और सुनीता। उत्तानपाद सुरुचि को अधिक प्यार करते थे, लेकिन सुनीता की उन्होंने उपेक्षा कर दी थी। सुनीता भी उनकी पत्नी ही थी। उसने राजा से कहा—'मैं भी आपकी धर्म पत्नी हूँ। फिर मेरी उपेक्षा क्यों?' उत्तानपाद ने कहा—'तुम अगर मेरी धर्मपत्नी हो तो जो मैं कहूँगा, वह करोगी?' सुनीता का उत्तर था—'हाँ, महाराज, अवश्य करूँगी।' 'तो जाओ, छत पर बैठकर दिनभर कौओं को उड़ाती रहो'—उत्तानपाद का आदेश हुआ। हमलोग यह भी जानते हैं कि सुरुचि का पुत्र उत्तम तो राजा का प्रिय था लेकिन सुनीता से उत्पन्न पुत्र ध्रुव वन में तपस्या के लिए धकेल दिया गया था।

क्या हम भी आज उत्तानपाद नहीं हो गये हैं? क्या हम भी सुरुचि (मनोनुकूल प्रिय व्यक्ति और वस्तु) पर अधिक ध्यान नहीं देने लगे हैं? क्या हमारी गोद में भी उत्तम (भौतिक सुख-सुविधा प्रदान करने वाले भोगों के पदार्थ) नहीं विराज रहा है? क्या हमारी सुनीता (धर्म नैतिकता और सद्वृत्तियाँ) भी आज छत पर कौए नहीं उड़ा रही है? सुनीता का पुत्र तो ध्रुव ही हो सकता है। ध्रुव का अर्थ है—अविचल। यानी प्रेम, करुणा,

क्षमा, भक्ति, ज्ञान, विश्वास, चिरन्तन सत्य, परम ऋत, अखण्ड आनन्द का स्रोत, अविनाशी आत्मा और हमारा जानने योग्य आत्मस्वरूप—परमात्म रूप। जहाँ सुनीता ही उपेक्षित रहेगी वहाँ ध्रुव का स्थान वन में ही तो होगा! ध्रुव तो सुनीता से ही उत्पन्न हो सकता है। परम सत्य को हम सुनीति से ही पा सकते हैं। लेकिन हमने सुरुचि को प्यार दिया है, सुनीति को तिरस्कार; उत्तम को आलिंगन और ध्रुव को वन-गमन दिया है। स्वभावतः हमारी दशा दयनीय हो गयी है।

श्रीरामकृष्णदेव सुरुचि और सुनीता में, भौतिकता और आध्यात्मिकता में, संसार और ईश्वर में किसी एक की उपेक्षा करना नहीं चाहते। हम सब जानते हैं, उन्होंने विवाह भी किया और वैरागी भी बने रहे। संसार में भी रहे और संन्यास में भी रहे। रस और परम आनन्द के सागर में भी तैरते रहे तथा परम त्याग के हिमालय के उत्तुंग शिखर पर भी विराजते रहे। क्या उनके जीवन के इस पक्ष से हम कोई प्रेरणा नहीं ले सकते? यदि हमें अपने को वस्तुतः सुख और शान्ति में रखना है तो जगत और जगदाधार दोनों का तालमेल कर रहना होगा।

आप कह सकते हैं, क्या यह संभव है? श्रीरामकृष्ण का उत्तर होगा, हाँ अवश्य संभव है। उनका कथन है—'संसार और ईश्वर दोनों बातें एक साथ होना कैसे संभव है?—चिउड़ा कटनेवाली स्त्री एक हाथ से ढेंकी की ओखली के भीतर चिउड़ा चलाती रहती है, दूसरे हाथ से बच्चे को गोद में लेकर दूध पिलाती है, साथ ही ग्राहकों के साथ लेन-देन का हिसाब करती जाती है। इस तरह वह एक ही साथ अनेकों काम करती रहती है, पर असल में उसका मन ढेंकी के मूसल की ओर रहता है कि कहीं वह हाथ पर न आ गिरे। इसी प्रकार तुम संसार में रहते हुए सब काम करो, किन्तु सतत ध्यान रखो कि कहीं ईश्वर के पथ से दूर न चले जाओ।' कभी वे कहते हैं—'बदचलन औरत संसार में रहती हुई गृहस्थी के काम-काज में मग्न रहती है, पर उसका मन सदा अपने यार की ओर ही पड़ा रहता है। हे संसारी जीव, तुम भी संसार में अपने कर्त्तव्यों को करते रहो, पर मन सदा ईश्वर में लगाए रखो।" यही है सुरुचि और सुनीति के साथ, संसार और ईश्वर के साथ, भौतिकता और नैतिकता के साथ सम्यक् समन्वय स्थापित कर रहने की शुभ-दृष्टि।

हम आज संकीर्ण जातिवाद के रोग से जिस प्रकार ग्रस्त हैं, उस प्रकार कभी नहीं थे। ऊँच-नीच, अगला-पिछड़ा, ब्राह्मण-हरिजन आदि के भेद-भाव से हमारा समाज जर्जर हो गया है। नेताओं के द्वारा दिया गया कोई समाधान और संविधान कारगर नहीं हो पा रहा है। हम जाति के नाम पर आज लड़ रहे हैं, हत्याएँ कर रहे हैं, संघर्ष कर रहे हैं, नारों और जुलूसों का हंगामा खड़ा कर रहे हैं। चलिए रामकृष्ण की ओर। वे क्या कहते हैं? उन्होंने एक उपाय सुझाया है। वे कहते हैं—'एक उपाय से जाति-भेद समाप्त हो जायगा। वह उपाय है भक्ति। भक्तों की जाति नहीं होती। भक्ति नहीं होने से ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है, और भक्ति होने पर चाण्डाल चाण्डाल नहीं है। अछूत जाति के लोग भी भक्ति होने पर शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं।' यह है उनकी दृष्टि। और उनका आचरण देखें। ब्राह्मण के उच्च कुल में उत्पन्न होकर भी उन्होंने सुनारों के घर में खाना खाया, धनी नामक लुहारिन से अपने उपनयन के समय भिक्षा ग्रहण की, अपने हुक्के में नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) को चिलम पीने को बाध्य किया और अपने लम्बे बालों से मेहतर के घर का पाखाना साफ किया। उनके शिष्यों में ब्राह्मणेतर जाति के ही अधिक शिष्य थे। लाटू जैसा गड़ेरिया भी उनका प्रिय शिष्य था। कैसे जाति-भेद उनके जीवन में गल-पिघल जाता है? स्वस्थ समाज-निर्माण के लिए यह कैसी मनोरम दृष्टि है, आप स्वयं सोचें।

श्रीरामकृष्ण ने आधुनिक दृष्टि से कोई ऊँची शिक्षा नहीं पायी थी। बल्कि केवल अर्थकरी जो विद्या है उसके प्रति उन्होंने अरुचि भी प्रदर्शित की। लेकिन शिक्षा के प्रति उनमें अनुराग कम नहीं था। वे कहा करते थे, जब तक

जीओ, तब तक सीखो।' अथवा 'जो एक विद्या में निपुण हो जाता है उसके लिए ईश्वर प्राप्त करना भी सहज हो जाता है।' अपनी इन उक्तियों के द्वारा वे समाज में पूर्ण शिक्षा का प्रचार ही करना चाहते थे। उन्होंने यहाँ तक कहा कि 'जिन्हें लोक-शिक्षा देनी है उनके लिए सभी शास्त्रों का अध्ययन अपेक्षित है।' इतना ही नहीं उन्होंने लाटू नामक अपने निरक्षर गड़ेरिये शिष्य को अक्षर-ज्ञान कराने की चेष्टा की और चाहा कि लाटू कुछ पढ़-लिख ले। आखिर क्यों? उनके इस आचरण का संकेत यह था कि हर एक पढ़ा हुआ व्यक्ति अन्य किसी एक को पढ़ाने का कार्य करे। अगर हम इस आदर्श का पालन करते हैं तो विना अधिक व्यय, श्रम और समय के सारे देश में सामान्य शिक्षा का शीघ्र प्रचार-प्रसार हो जायगा और तभी देश विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति कर सकेगा। महात्मा गाँधी ने श्रीरामकृष्ण के उक्त आचरण में निहित संकेत के मर्म को समझा था और उन्होंने शिक्षा-प्रचार में इस नीति का समर्थन भी किया था।

अब देखें श्रीरामकृष्ण की अर्थ नीति। वे धन को भगवान की सम्पत्ति और धन के स्वामी को भगवान की सम्पत्ति का न्यासी (ट्रस्टी) मानते थे। वे चाहते थे कि धनवान व्यक्ति अपने धन का उपयोग निजी भोग-विलास के उपकरणों को जुटाने में न कर लोक-कल्याण में करें। एक बार काशी जाने के मार्ग में जब वे वैद्यनाथ धाम पहुँचे तो समीप के किसी गाँव के निवासियों की दुर्दशा देखकर उन्होंने माथुर वाबू से कहा—'तुम तो माँ के दीवान हो। इन गरीबों के सिर में सरसों के तेल, शरीर में एक कपड़ा तथा उनके लिए एक शाम भर पेट भोजन की व्यवस्था करो।' माथुर बाबू की आनाकानी देखकर उन्होंने कहा—'धत् साला, तुम्हारी काशी मैं नहीं जाऊँगा। मैं इनके ही निकट रहूँगा। इनका कोई नहीं है। इन्हें छोड़कर नहीं जाऊँगा।' तब माथुर वाबू ने सारी व्यवस्थाएँ कीं। कहने का भाव यह है कि यदि समाज के धनी वर्ग के लोग स्वेच्छापूर्वक समाज के दलित-पीड़ित वर्ग के लोगों के प्रति अपने दायित्व को समझें और अपनी सम्पत्ति में गरीबों की भागीदारी को महसूस करें तो वर्ग-संघर्ष की घटनाओं से ही नहीं वचा जा सकता है वल्कि धनियों और गरीबों के बीच की आर्थिक विषमता को भी पाटा जा सकता है। महात्मा गाँधी ने जिस ट्रस्टीशिप की चर्चा की थी उसके मूल में श्रीरामकृष्ण का विचार ही कार्य कर रहा था।

सामाजिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार, काला वाजारी और चीजों में मिलावट की बीमारी आज गहरे रूप में व्याप्त है। अगर हम श्रीरामकृष्ण के पास चलें और उनसे पूछें कि इस बीमारी का क्या इलाज है आपके पास तो वे उत्तर देंगे—सदाचार और सत्य के प्रति निष्ठा। उनका कथन होगा—'जो विषय कर्म करते हैं—आफिस का कार्य या व्यवसाय करते हैं—उनके लिए भी सत्य में अधिष्ठित रहना ही उचित है। सत्य ही कलियुग की तपस्या है।' अब यह बड़ी गहरी और अर्थ पूर्ण बात है। स्वयं श्रीरामकृष्ण ने सत्य के प्रति आजीवन गहरी निष्ठा दिखायी। हम भी इसका अनुसरण कर ही सामाजिक, राजनैतिक कदाचार मिटा सकते हैं।

श्रीरामकृष्ण की आशाओं के केन्द्र विन्दु थे भारत के तरुण। उनकी ही वे पुकार लगाते थे—'अरे, तुम लोग कौन कहाँ हो, आओ।' युवकों के प्रति उनका यह आह्वान वड़ा अर्थपूर्ण था। युवकों को ही त्याग और तप के द्वारा राष्ट्र को समुन्नत करना है। उन्होंने सारे जीवन में सोलह तरुणों को मनुष्य बनाया। सर्वाङ्गपूर्ण मनुष्य। जब नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण से समाधि में अपने डूबे रहने की इच्छा प्रकट की थी तो उन्होंने फटकारते हुए कहा था—'छि, छिः कहाँ तो तुम इतने वड़े आधार हो और कहाँ तुम्हारे मुख से यह हीन वात! मैं सोचता था तुम एक विशाल वट वृक्ष की भाँति होगे--तुम्हारी छाँह में हजारों-हजार लोग विश्राम पायेंगे—ऐसा नहीं कर तुम केवल अपनी मुक्ति चाहते हो।' यह कहकर मानो उन्होंने आज के तरुणों का भी आह्वान किया है—केवल अपनी मुक्ति, केवल अपना

भोग या अपने स्वार्थ की सिद्धि की कामना करना सबसे बड़ी हिंसा है। सबसे बड़ा प्रेम है स्वजनों के लिए अपने को उत्सर्ग कर देना अपनी बलि दे देना। आज के तरुणों को श्रीरामकृष्ण की पुकार का उत्तर देना ही होगा। उत्तर यही है कि शिव हमारे भीतर ही नहीं बाहर भी हैं। हर पुरुष शिव है, हर नारी उमा। इसी दृष्टि से उनकी सेवा करनी होगी।

महर्षि अरविन्द ने भावी भारत के प्रति श्रीरामकृष्ण के अवदान की चर्चा करते हुए कहा है—"भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की उक्तियों एवं उनके सम्बन्ध में पुस्तकें रची गयी हैं, उनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होंने देश में जिस नूतन भाव का गठन किया है, जिस भाव-राशि ने समस्त भारतवर्ष को आप्लावित कर दिया है, जिस भाव तरंग में मत्त होकर कितने ही युवकों ने अपने जीवन को तुच्छ समझ कर आत्माहुति प्रदान की है, उस भाव की बात उन्होंने कुछ भी नहीं कही, सर्वभूतान्तर्यामी भगवान् ने उसे नहीं देखा, इस बात पर कैसे विश्वास करूँ ?

"जिनके पाद-स्पर्श से पृथ्वी पर सत्ययुग का आगमन हुआ है, जिनके स्पर्श से धरणी सुख-मग्ना हुई है, जिनके आविर्भाव से अनेक युगों से संचित तमोभाव का विनाश हुआ है, जिस शक्ति के मात्र सामान्य उन्मेष से दिग्-दिगन्त व्यापी प्रतिध्वनि जाग्रत हुई है, जो पूर्ण हैं, जो युग धर्म प्रवर्तक हैं, जो अतीत के सारे अवतारों के समष्टि स्वरूप हैं, उन्होंने भावी भारत को देखा नहीं या उसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं, इस बात पर मैं विश्वास नहीं करता।

"हमारा विश्वास है कि जो बात उन्होंने मुँह से नहीं कही उसे वे कार्य रूप में कर गये हैं। वे भावी भारत के प्रतिनिधि को अपने सम्मुख बैठाकर गठित कर गये हैं, इस भावी भारत के प्रतिनिधि हैं स्वामी विवेकानन्द।

"अनेक लोगों को लगता है कि स्वामी विवेकानन्द का स्वदेश प्रेम उनकी अपनी देन है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि उनका स्वदेश प्रेम उनके पूज्यपाद गुरुदेव की ही देन है। उन्होंने स्वयं भी अपना कहकर कोई दावा नहीं किया है।"

* * *

"श्रीरामकृष्ण उनसे कहते थे—'तुम वीर जो हो, रे।'

"वे जानते थे कि, उनके (स्वामी विवेकानन्द के) भीतर जिस शक्ति का संचार कर वे जा रहे हैं, कालक्रम से उसी शक्ति की उदीप्त छटा से भारत सूर्य के किरण-जाल से आवृत होगा। हमारे युवकों को भी इसी वीर-भाव की साधना करनी होगी। उन्हें बेपरवाह होकर देश का कार्य करना होगा और निरन्तर इस भगवद्वाणी को अपने स्मरण-पथ पर रखना होगा—'तुम वीर जो हो, रे!"

मित्रो, मेरा आपसे, विशेषकर तरुणों से, अनुरोध है कि आप सब श्रीरामकृष्ण की शक्ति की उद्दीप्त छटा की ओर लौटें, उस छटा की ओर जिसके एक किरण-कण से ही स्वामी विवेकानन्द जैसे नर-रत्न का आविर्भाव हुआ था तभी हमारा, हमारे देश का और आप सब का मंगल होगा।

भगवान् श्रीरामकृष्ण से हमारी आंतरिक प्रार्थना है कि वे हम सब में अपनी शक्ति के मात्र एक अणु का भी संचार करने की कृपा करें ताकि हम वर्तमान अंधकार के पंक-जाल से मुक्त होकर प्रगति, विकास और मंगल के आलोक-लोक में प्रतिष्ठित हो सकें। जय भगवान् श्रीरामकृष्ण!

**

यदि यह देश अपना अभ्युत्थान करना चाहता है तो इसे उनके (श्रीरामकृष्ण के) नाम की ओर उत्साहपूर्वक चलना ही होगा।

—स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण के तीन रूप

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी।

भगवान राम के वन-गमन के समय उनकी भेंट ऋषि वाल्मीकि से हुई थी। भगवान राम ने ऋषि से निवास का कोई उपयुक्त स्थान पूछा। वाल्मीकि ने जो उत्तर दिया, वह रामचरितमानस में 'राम-निवास' के नाम से प्रसिद्ध है। (अ० का० १२५ से १३२) ऋषि ने कहा कि प्रभु, पहले यह तो बताइये कि आप कहाँ नहीं हैं? आप तो सर्वत्र सर्वदा विराज करते हैं। अगर निवास करना ही चाहते हों तो ऐसे भक्तों के हृदय में निवास कीजिये जो मुँह से सदा आपके नाम का जाप करते हैं, हाथों से आपकी सेवा करते हैं, पैरों से आपके तीर्थों का भ्रमण करते हैं। नेत्रों से आपके श्री-विग्रह का दर्शन करते हैं, तथा कानों से आपका कथामृत पान करते हैं; जो पवित्र व सदाचारी हैं तथा देव-द्विज-गुरु-पूजन करते हैं, आप उनके हृदय में सदा निवास करें, इत्यादि। तदनन्तर ऋषि वाल्मीकि चित्रकूट को भगवान के निवास के लिए सबसे अनुकूल स्थान बताते हैं।

इस सुन्दर प्रसंग के द्वारा गोस्वामी तुलसीदासजी ने हमें अवतारी महापुरुषों को देखने तथा समझने की तीन दृष्टियाँ प्रदान की हैं। पहली देह तथा भौतिक लीला से संबंधित ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टि; दूसरी गुणों, भावों तथा आदर्शों पर आधारित आध्यात्मिक दृष्टि; तथा तीसरी भावातीत, गुणातीत, देश-कालातीत तत्व पर आधारित पारमार्थिक दृष्टि। श्रीरामकृष्ण का अध्ययन एवं अनुध्यान भी इन तीनों प्रकार से किया जा सकता है।

श्रीरामकृष्ण का जन्म १४९ वर्ष पूर्व, ६ फाल्गुन संवत् १७५७ तदनुसार १७ फरवरी, ई० सन् १८३६ बुधवार भाद्र शुक्ला द्वितीया को सूर्योदय से बारह मिनट पूर्व हुगली जिले के कामारपुकुर नामक ग्राम में हुआ था। बाल्यकाल में उन्हें तीन बार भाव-समाधि हुई थी। अर्थ-संग्रहकारी शिक्षा के प्रति अरुचि होने के कारण वे अधिक विद्या अध्ययन नहीं कर सके। पिता की मृत्यु के बाद १६ वर्ष की उम्र में वे अपने बड़े भाई रामकुमार के साथ कलकत्ता आये तथा घटनाक्रम से कलकत्ता के निकट दक्षिणेश्वर में नवनिर्मित काली-मंदिर में पुजारी नियुक्त हुए। तदनन्तर उनकी कठोर एकनिष्ठ साधना का क्रम प्रारंभ हुआ। ईश्वर-दर्शन की तीव्र व्याकुलता के फलस्वरूप उन्हें माँ जगदम्बा का दर्शन प्राप्त हुआ तथा धीरे-धीरे वह उनके लिए स्थायी तथा स्वाभाविक हो गया।

इसके बाद भैरवी ब्राह्मणी, तोतापुरी आदि गुरुओं के मार्ग-दर्शन में श्रीरामकृष्ण ने तंत्र, वैष्णव धर्म तथा वेदान्त की साधना की तथा इन सभी के चरम लक्ष्य को प्राप्त किया। यही नहीं—इस्लाम धर्म की भी साधना की तथा ईसाई धर्म की भी चरम अनुभूति प्राप्त की। साधना के अन्त में उन्होंने अपनी पत्नी की देवी के रूप में षोडषोपचार-पूजा की।

साधना की परिसमाप्ति पर उनके पास मुमुक्षुओं का आगमन प्रारंभ हुआ। वे केशवसेन आदि ब्राह्म नेताओं से मिले तथा उन्हें प्रभावित किया। गुरु के रूप में उन्होंने अनेक युवक साधकों को साधना पथ पर अग्रसर किया, जिनमें नरेन्द्रनाथ प्रमुख थे, जो आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द हुए।

सन् १८८५ ई० में उनके गले में कैंसर-रोग का सूत्रपात हुआ जिसकी चिकित्सा के लिए वे काशीपुर

उद्यान भवन में लाये गये। १६ अगस्त १८८६ को रात्रि एक बजकर १५ मिनट पर उन्होंने देह त्याग किया।

यह है श्रीरामकृष्ण की भौतिकी लीला। बाह्य दृष्टि से इतने सामान्य प्रतीत होने वाले इस घटना-चक्र के पीछे एक अपूर्व आध्यात्मिक गाथा है। श्रीरामकृष्ण केवल एक ऐतिहासिक पुरुष ही नहीं थे, वे एक भावमय देवमानव भी थे। स्वामी विवेकानन्द तो उन्हें आदर्शों के एक घनीभूत विग्रह के रूप में देखते थे। यही कारण है कि जिन उपदेशों का स्वामी विवेकानन्द ने देश-देशान्तर में प्रचार किया, वे सभी श्रीरामकृष्ण के होते हुए भी उनमें विरले ही श्रीरामकृष्ण के नाम अथवा उनकी जीवनी सम्बन्धी तथ्यों का उल्लेख है। श्रीराम-कृष्ण का जीवन नैतिक आदर्शों तथा आध्यात्मिक सत्यों के विकास तथा अभिव्यक्ति का एक अद्भुत इतिहास है जिसे प्रसिद्ध साहित्यकार क्रिस्टोफर ईशरवुड "The story of a phenomenon" कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

साधना के प्रारंभ में श्रीरामकृष्ण के मन में एक प्रश्न उठा था, जो विश्व के सभी देशों तथा सभी कालों के साधकों के मन में उठता रहा है: "क्या ईश्वर है? इस अनित्य क्षणभंगुर जगत् के पीछे क्या कोई स्थायी, नित्य सत्ता है? यदि है तो क्या उसका साक्षात्कार किया जा सकता है?" इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने पाया था तीव्र व्याकुलता तथा एकनिष्ठ दीर्घ कठोर साधना द्वारा। साधना काल में वे मूर्तिमान साधना ही वन गये थे। ऐसी थी उनकी व्याकुलता कि उनकी आँखों से नींद वर्षों के लिये गायव हो गयी, स्थान व काल का वोध जाता रहा, संसार विस्मृत हो गया, तथा इतनी प्रिय देह भी वे भूल गये। अन्त में उन्हें ईश्वर के दर्शन हुए। जिस सिद्धि को प्राप्त करने में सामान्य साधकों को अनेक जन्म लग जाते हैं, उन्होंने तीव्र संवेग के द्वारा उसे ६ माह में प्राप्त की। वे कहा करते थे कि ठीक-ठीक व्याकुल होकर पुकारने पर ईश्वर के दर्शन होते हैं, और यह उन्होंने स्वयं करके दिखाया। उनके जीवन में अपरिग्रह ऐसा था कि एक पुड़िया मुख-शुद्धि का मसाला ग्रहण नहीं कर पाते थे। ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठा ऐसी थी कि अनजाने में भी किसी नारी का स्पर्श हो जाने पर हाथ मुड़ जाता था और उसमें पीड़ा होने लगती थी। कांचन-त्याग ऐसा था कि धातु का स्पर्श होने पर हाथ जलने लगता था। उनकी सत्य-निष्ठा ऐसी थी कि वचन के अनुसार कार्य न करने पर उनके पैर ही नहीं चल पाते थे। श्रीरामकृष्ण की ऐसी अभूतपूर्व साधना व सिद्धावस्था को देखते हुए ही प्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार रोमा-रोलां ने लिखा है कि—"उनका जीवन असंख्य नर-नारियों के तीन हजार वर्षों की आध्यात्मिक आशाओं व आकांक्षाओं का घनीभूत प्रतिरूप था।" तात्पर्य यह कि उनके आन्तरिक जीवन में उच्च आध्यात्मिक भावों का एक ऐसा प्रवाह वहा था, जिसने इतिहास और भूगोल की, देश व काल की सीमाओं का तीव्रता से अतिक्रमण कर डाला था।

पारमार्थिक दृष्टि से श्रीरामकृष्ण परब्रह्मपरमेश्वर हैं। वे ही सगुण ईश्वर भी हैं जो युग-युग में धर्म-संस्थापना के लिये अवतार के रूप में धराधाम पर अव-तरित होते हैं।

उपर्युक्त वर्णित ऐतिहासिक, आध्यात्मिक तथा पारमार्थिक, श्रीरामकृष्ण के इन तीनों रूपों का भक्त के लिये महत्व है। प्रारंभिक अवस्था में जब भक्त का देहात्म-बोध प्रवल होता है, तब उसे स्थूल आश्रयों की आवश्यकता होती है, जिनके द्वारा वह मन को ईश्वराभिमुखी कर सके। वह श्रीरामकृष्ण के चित्र या प्रतिमा की पूजा से साधना आरंभ करता है। श्रीरामकृष्ण का जन्म स्थान कामारपुकुर, उनकी साधना स्थली दक्षिणेश्वर मंदिर व तद्स्थित पंचवटी, तथा अन्त्य-लीला-स्थान काशीपुर उद्यान-भवन उसके लिये परमपवित्र तीर्थ बन जाते हैं। श्रीरामकृष्ण द्वारा स्पर्श की गयी प्रत्येक वस्तु पूजार्ह हो जाती है। श्रीरामकृष्ण तथा उनके अन्तरंग पार्षदों के जन्म दिन उसके लिये धार्मिक पर्व का रूप ले लेते हैं तथा वह

श्रीरामकृष्ण की मानव-लीला का ध्यान कर अपने को धन्य मानता है। लेकिन आध्यात्मिक विकास के क्रम में एक समय ऐसा आता है जब भक्त श्रीरामकृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शनों के लिये व्यग्र हो उठता है। वह सोचता है : 'कामारपुकुर, दक्षिणेश्वर आदि तीर्थों का भ्रमण तो कई बार किया, लेकिन श्रीरामकृष्ण का दर्शन एक बार भी नहीं पाया। स्थान तो वही हैं, पर श्रीरामकृष्ण नहीं हैं।' अन्तर्मुखी होने पर भक्त अनुभव करता है कि स्थूल देह मे अविद्यमान होने पर भी वे भावरूप में अभी भी विद्यमान हैं। "यदि मैं धर्मनिष्ठा तथा न्याय-परायणता रूपी क्षुदीराम तथा सरलता व पवित्रता रूपी चन्द्रामणी देवी को अपने हृदय में प्रतिष्ठित करूँगा तो मेरा हृदय ही कामारपुकुर हो जायेगा जहाँ भगवान का आविर्भाव होगा। ईश्वर-दर्शन को जीवन का लक्ष्य बनाने पर तथा ईश्वर-दर्शन के लिये व्याकुल होने पर मेरा हृदय ही दक्षिणेश्वर हो जायेगा। जगत्-कल्याण की भावना से प्रेरित हो अपने जीवन का उत्सर्ग करने पर मेरा यही हृदय काशीपुर उद्यान भवन हो जायेगा।" और अंत में भक्त यह अनुभव करता है कि जिन श्रीरामकृष्ण को वह वाह्य जगत् में तथा साधना में खोजता रहा था, वे तो सदा ही उसके हृदय में विद्यमान थे, वे उसकी अन्तरात्मा ही हैं, उसका वास्तविक स्वरूप ही श्रीरामकृष्ण हैं, वह केवल उसे भूल गया था।

श्रीरामकृष्ण के पारमार्थिक रूप का प्रत्यक्ष अनुभव करना, यह जानना कि श्रीरामकृष्ण अन्तर्यामी, साधक की आत्मा की भी आत्मा, परमात्मा हैं, भक्त-साधक की साधना का चरम लक्ष्य है। उपर्युक्त वर्णित श्रीरामकृष्ण के तीन रूप आध्यात्मिक विकास के तीन स्तर हैं। इष्ट के स्थूल रूप का चिन्तन, उनकी मानवी लीला का ध्यान तथा तत्संबंधित ऐतिहासिक गवेषणा उपयोगी सोपान होते हुए भी प्रारम्भ ही हैं। श्रीराम-कृष्ण द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक भावों को जीवन में उतारे विना, उनके जीवन व उपदेशों द्वारा प्रकाशित आदर्शों के अनुसार जीवन गठन किये विना केवल ऐतिहासिक गवेषणा का कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। अनन्त भावमय श्रीरामकृष्ण के भावों की कोई इति नहीं है, यह स्मरण रखकर साधक को सदा आगे बढ़ते रहना चाहिये।

■

धर्म का निवास प्रेम में है, हृदय के शुद्ध और निष्ठापूर्ण प्रेम में, पूजा के बाहरी उपचार में नहीं। जब तक व्यक्ति शरीर और मन से शुद्ध नहीं होता, तब तक उसका किसी मन्दिर में आना और शिव की आराधना करना व्यर्थ है। जो मन और शरीर से पवित्र हैं उनकी प्रार्थना का शिव उत्तर देंगे, और जो अपवित्र हैं और तब भी दूसरों को धर्म का उपदेश देते हैं वे अन्त में विफल हो जायेंगे। बाहरी पूजा प्रतीक मात्र है; लेकिन आन्तरिक पूजा और पवित्रता ही असली वस्तुएँ हैं। उनके विना, बाहरी पूजा किसी काम की नहीं होती।

—स्वामी विवेकानन्द

परमहंसदेव रामकृष्ण

—कलक्टर सिंह 'केसरी'

दान बड़ा या दाता ?

लगन जब भगवान से लग जाती है तो मन और कहीं नहीं लगता। इस लगन में मगन होकर आदमी मस्तमौला बन जाता है। उसके लिए दुनिया के सारे मौजमजे बेमानी हो जाते हैं। धन-दौलत, माल-मिलकियत से उसका कोई नाता-रिश्ता नहीं रह जाता। अपनी लगन के धन से वह निहाल हो जाता है। ऐसी लगनवाले के लिए ही कवि कहा ने है।

"चाह घटी चिंता मिटी, मनुआ बेपरवाह
जा को कछु नहिं चाहिए, सो है शाहंशाह"

इस लगन की एक बड़ी खूबी है। यह जिसे लग जाती है, वह बिलकुल बेफिक्र होकर चैन की बंशी बजाता है। इस लोभ और मोह से भरी दुनिया में चैन बड़ी ही दुर्लभ वस्तु है। भगवान ने इसे क्यों दुर्लभ बना दिया है, इसके संबंध में अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि हरवर्ट की एक बड़े मार्के की कविता है। 'परमेश्वर के वरदान—दि गिफ्ट्स ऑफ गॉड' शीर्षक इस कविता का सारांश यों है—

दुनिया के रचनेवाले भगवान जब आदमी बनाने लगे तो उन्होंने सोचा—'इस आदमी नामक जीव में मैं अपनी सारी विभूतियाँ उड़ेल दूँगा। इस जीव में मैं संसार की समस्त संपदाएँ जो यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं, एकत्र सँजोकर रख दूँगा।' ऐसा निश्चय कर परमेश्वर ने मनुष्य की रचना शुरू की। पास ही उनका कलश था जिसमें उनके सभी वरदान भरे पड़े थे।

सबसे पहले शक्ति आई, फिर सौंदर्य, विवेक, मान-सम्मान और हास-विलास एक के बाद एक आते गए। कलश करीब-करीब खाली हो चला और तब भगवान रुक गए। उन्होंने कलश में झाँककर देखा कि सभी वरदान तो निकल चुके हैं; सिर्फ 'चैन' अभी कलश के पेंदे में बाकी बचा है। भगवान ने सोचा—'आदमी को मैंने सबकुछ दे दिया, किंतु 'चैन' उसको नहीं दूँगा। यदि चैन उसे दे दूँगा तो हम-दोनों घाटे में रहेंगे। चैन पा लेने पर तो आदमी मुझे ही भूल जाएगा। वह दाता को भूल उसकी दी हुई वस्तुओं की ही पूजा करने लगेगा। इसलिए और सभी संपदाएँ उसके पास रहें, किंतु चैन से उसे वंचित रहना होगा। संभव है, सबकुछ पाकर भी उसे शांति नहीं मिलेगी तो लाचार होकर वह मेरो याद करेगा। तब दान से बढ़कर दाता को मानकर वह मेरे प्रति श्रद्धावान् हो सच्ची शांति का अधिकारी बनेगा।'

सृष्टि के प्रारंभ से ही आदमी बेचैन रहा है। राजा से लेकर रंक तक, यहाँ सभी-के-सभी बेचैन हैं। जो गरीब है वह अन्न-वस्त्र की फिक्र में बेचैन है; जो धनी है वह और ज्यादा धन बटोरने के लोभ में बेचैन है। कहते हैं, विश्व-विजेता सिकन्दर मरने के वक्त इसलिए रो रहा था कि उसके जीतने के लिए कोई और दुनिया नहीं मिली ! कभी-कभी ऐसा होता है कि जिंदगी की भाग-दौड़ से थक कर कुछ लोग संसार के सुख-भोग से ऊब उठते हैं। ऐसे दीन-हीन जन दीनबन्धु भगवान को याद करते हैं—'हारे को हरिनाम'।

किंतु ऐसे भाग्यवान लोग भी हुए हैं जिन्होंने जीवन के प्रभात में ही दुनिया के मौजमजों से मुँह मोड़ लिया। उन्होंने स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ को अपनाया और भगवद्भक्ति के रस में सराबोर होकर अपना सारा जीवन लोक-कल्याण के काम में समर्पित कर दिया। एक ऐसे ही महापुरुष के पावन जीवन की

कुछेक झाँकियाँ नीचे की पंक्तियों में प्रस्तुत की गई हैं—

होनहार बिरवान के होते चीकने पात !

पश्चिम बंगाल के हुगली जिले में कामारपुकुर नामक एक गाँव है। आज से करीब डेढ़ सौ बरस पहले इस गाँव में एक लड़का पैदा हुआ था जो आज सारी दुनिया में परमहंस रामकृष्ण के नाम से प्रसिद्ध है। किंतु जरा उस लड़के को तो देखिए जो आगे चलकर जगद्गुरु बना !

कामारपुकुर के एक दरिद्र ब्राह्मण परिवार का यह लड़का गदाधर सारी बस्ती का लाड़ला है। लोग उसे प्यार से 'गदाई' कहते हैं। छोटी-सी ही तो बस्ती है कामारपुकुर। गदाई हर परिवार का हृदय-हार है। सुदर्शन सुशील गदाई के कंठ में जैसे अमृत भरा है। वह भक्ति-गीत जब झूम-झूम के गाने लगता है तो गाँव की बड़ी-बूढ़ियाँ उसे छाती से लगा लेती हैं और उसपर आशीर्वादों की वर्षा करने लगती हैं। जब कभी वे अपने घर कोई मिठाई या पकवान बनाती हैं तो उसमें थोड़ा-सा गदाई के लिए अवश्य रख छोड़ती हैं।

किंतु गदाई का मन पढ़ने में नहीं लगता। गणित से तो उसे नफरत है। देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाने तथा लोगों की नकल करने में उसे बड़ा मजा मिलता है। किंतु उसका मन रमता है पौराणिक कथाओं के कहने-सुनने में !

शाम होते ही गाँव की बाल-मंडली किसी चौपाल में जुट जाती है। कथा-वाचक के आसन पर बैठते हैं गदाधर महाराज। हू-ब-हू कथा-वाचक के रंग-ढंग और हाव-भाव के साथ गदाधरजी कोई पौराणिक कथा शुरू करते हैं। सचमुच बड़ा चित-चोर है यह बालक-कथावाचक ! लगता है, कोई गंधर्व-कुमार बैठा अपने कोकिल-कंठ से रस उड़ेल रहा है। कथा में कोई सरस प्रसंग आता है तो गदाधर सहसा उठकर नाच उठता है। वह अपने को सँभाल नहीं पाता और नाच-नाचकर कोई सरस भक्ति-गीत इतने मधुर-स्वर में टेर उठता है कि उपस्थित बाल-मंडली मुग्ध-विभोर होकर झूम-झूम उठती है। गदाधर की तन्मयता देखकर बड़े-बूढ़े कहते हैं—'यह लड़का तो जैसे एक अजूबा है ! भला ऐसी अनहोनी बात कभी देखी गई थी !'

गाँव में एक और जगह है जहाँ गदाधर बहुत आया-जाया करता है। वह है गाँव के जमींदार लाहा बाबू की बनाई धर्मशाला। उधर अभी रेल-लाइनें नहीं आई हैं; इसीलिए जगन्नाथपुरी जानेवाले साधु-वैरागी उस धर्मशाला में दो-चार दिन विश्राम कर आगे बढ़ते हैं। गदाधर उन साधु-वैरागियों से खूब हिलमिल गया है। उनके बीच चलती हरि-चर्चा सुनने में उसे बड़ा रस मिलता है। कहते है, तरबूजे को देख तरबूजा रंग बदलता है। गदाधर के साथ भी ऐसा ही कुछ हो गया है। खूब तड़के नहा-धोकर उसने सारी देह में भस्म लपेट ली है। कमर में एक लँगोटी और माथे पर एक भरपूर तिलक ! सोलहो आने फकीराना बाना बना लिया है गदाधर ने ! अपनी माँ चन्द्रा देवी के पास पहुँच कर वह कहता है—'देख तो माँ, साधुओं ने मेरा रूप कैसा सँवार दिया है !' माँ उसे देखकर अवाक् है। आँखें फाड़-फाड़कर कुछ देर देखती है, और तब उसके सहमे-सूखे होंठों से बोल फूट पड़ता है—'अरे यह तो मेरा लाल गदाई है'। किंतु माँ के मन में शंका घर कर गई है कि कहीं ये साधु-फकीर उसके बेटे को फुसलाकर उसे अपने गिरोह में शामिल न कर लें। साधुओं के बार-बार आश्वासन देने पर उन्हें तसल्ली हुई !

गदाधर नवाँ पार कर अब दसवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। बड़े भाई रामकुमार ने उसके उपनयन संस्कार को पूरा करने का निश्चय किया है। पिता के देहावसान के बाद रामकुमार पर ही परिवार की सार-सँभाल का भार आ गया है। किंतु उपनयन में एक अड़चन खड़ी कर दी है स्वयं गदाधर ने ! वह कहता है—'मैं पहली भिक्षा धनी लुहारिन से लूँगा और उसे ही अपनी भिक्षा-माता बनाऊँगा। मैंने उसे वचन दे दिया है !'

रामकुमार बड़े धर्म-संकट में पड़ गए हैं। कोई ब्राह्मण-कुमार किसी ब्राह्मणेतर से अपनी पहली भिक्षा

नहीं ले सकता। यह एक अनिवार्य सामाजिक बंधन है। किंतु गदाघर है जो कोई सामाजिक बंधन मानने को तैयार नहीं। आखिकार उसी की बात रही और उसने धनी लुहारिन को ही अपनी भिक्षा-माता बनाया। विचित्र बालक है यह गदाधर! किन्तु गदाधर की सबसे बड़ी विचित्रता तो कुछ और है। वह देखिए, गदाधर धनखेतों की मेड़ों से होकर कहीं जा रहा है। सामने दूर-दूर तक फैले लहराते धनखेत हैं। ऊपर आकाश में एक साँवला-सलोना मेघ तैरता जा रहा है। ठीक उसके नीचे बगुलों की एक पंक्ति उड़ती जा रही है। दप-दप उजले पंखोंवाले बगुलों के ऊपर-ऊपर अभिराम-धनश्याम! इस हृदय-हरण दृश्य को गदाधर ने जो देखा तो देखता ही रह गया! जाने कौन-सी छवि इस दृश्य में उसने देखी कि उसके हृदय में एक आनंद की तरंग उठी जो उसकी चेतना को डुबोती चली गई! गदाधर की आँखें मुँद गईं और वह अचेत होकर मेड़ों पर लेट गया। उसे भाव-समाधि लग गई। शायद उसका अन्तर्मन वक-पंक्ति के साथ अनन्त आकाश में उड़ने लगा। कविगुरु रवीन्द्रनाथ के अन्तर्मन के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ होगा जब उन्होंने यह लिखा था—

'आकाशे उड़ितेछे वक-पाँती
अन्तर आमार तार साथी।'

आस-पास के लोग आए और उपचार में लग गए। थोड़ी देर में गदाधर ठीक-ठाक होकर स्वस्थ-प्रसन्न घर वापिस आया!

माँ चन्द्रादेवी ने सुना तो वे बहुत ही घबरा गईं। गाँव के लोगों ने भाँति-भाँति के रोगों की आशंका की। किसी ने कहा, यह मूर्च्छा है। किसी ने इसे मिरगी का दौरा बताया। अनेक लोगों ने इसे प्रेत-बाधा बतलाकर चंद्रादेवी को बेचैन कर दिया। गदाधर ने कहा—'माँ, मुझे कोई आधा-बाधा नहीं लगी है। देख, मैं कितना ठीक-ठाक हूँ। सच कहता हूँ माँ, मुझे जो आज हुआ उससे मैं पहले से भी ज्यादा स्वस्थ-प्रसन्न हो गया हूँ।'

रह-रहकर यह भाव-समाधि गदाधर को लगने लगी है। उस दिन गाँव की बड़ी-बूढ़ियों के साथ गदाधर विशालाक्षी देवी के दर्शनों के लिए पास के एक गाँव में जा रहा है। गाँव के जमींदार लाहा बाबू की विधवा बहन प्रसन्न ने गदाधर से एक भजन गाने को कहा। गदाधर गाने लगा और गाते-गाते इतना विभोर हो गया कि उसे भाव-समाधि लग गई। साथ की बड़ी-बूढ़ियों ने देवी-देवताओं को पुकारना शुरू किया। देवताओं के नामोच्चारण से गदाधर की समाधि टूटी और वह पूर्ववत् हँसता-खेलता आगे बढ़ा। गदाधर को ठीक ठाक देखकर जमींदार की बहन प्रसन्न ने कहा—'गदाई, तू आदमी के रूप में कोई देवता है।'

ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय!

तब से कितना ही समय बीत गया। ई० सन् १८५७ में गदाधर के बड़े भाई रामकुमार का देहांत हो गया। कलकत्ते के समीप दक्षिणेश्वर में दुर्गा-मंदिर के प्रधान पुजारी थे रामकुमार! उनकी मृत्यु के बाद गदाधर पुजारी के पद पर आ गए। गाँव-गँवई के गदाधर अब बीस वर्षीय एक स्वस्थ सुंदर युवक थे जिनके पुजारी होते ही दक्षिणेश्वर के दुर्गा-मंदिर की रौनक में चार-चाँद लग गए। जिन्हें गाँव के लोग गदाधर कहते थे वे अब 'परमहंस रामकृष्ण' के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। लगातार बारह बरसों तक रामकृष्ण ने कृच्छ साधनाएँ कीं। तंत्र-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग और फिर हठयोग की भी उन्होंने सफल साधना पूरी कर ली। वे एक सिद्ध-पुरुष बन गए!

किंतु इतना सब होते हुए भी रामकृष्ण मस्तमौला बने रहे। दूर-दूर के प्रकांड पंडित और धुरंधर विद्वान उनके दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर पधारते; उनके मुँह से दो शब्द सुनने के लिए लालायित रहते। और, रामकृष्ण थे कि उनसे एक भोले-भाले निश्छल बालक की तरह घुलमिलकर बातें करते, उनसे मजाक भी कर लेते, और अपने परमहंसी स्वभाव से उन्हें मुग्ध कर देते। इस तरह अब भी रामकृष्ण एक अजूबा के अजूबा

बने रहे। 'लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर' उन्हें हम चाहे न कहें किंतु उनका पुस्तकीय ज्ञान नहीं के वरावर था। फिर भी बड़े-से-बड़े पंडित उनकी चरण-धूलि को माथे पर चढ़ाकर अपने को धन्य मानते! क्योंकि जो अंतर्दृष्टि और विवेक उन्हें मिला था वैसा विरले लोगों को ही मिलता है। तभी तो 'आर्य-समाज' के प्रवर्तक पंडितप्रवर दयानन्द सरस्वती ने रामकृष्ण से मिलने के बाद यों कहा था—'सारा जीवन हमलोगों ने वेद-वेदांगों के मंथन में बिता दिया, किंतु मक्खन तो इस महापुरुष ने ले लिया है, और हमारे लिए बस बचा है मट्ठा।'

दरअसल रामकृष्ण ने 'प्रेम के ढाई अक्षर' को केवल पढ़ा ही नहीं था, उसे अपने रोम-रोम में लबालब भर लिया था। कवि ने कहा है न—

'पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित हुआ य कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।।

परमहंस कैसा होता है इसे जानना है तो देखिए रामकृष्ण को। दक्षिणेश्वर के दुर्गा-मंदिर के सामने प्रशस्त मैदान में पाँत के पाँत भिखारी बैठे भोजन कर रहे हैं। रामकृष्ण स्वयं भोजन परोस रहे हैं। रह-रहकर वे किसी भिखारी की पत्तल से थोड़ा अन्न निकालकर अपने मुँह में डाल लेते हैं। भोजन की समाप्ति पर रामकृष्ण स्वयं सभी जूठी पत्तलों को समेटकर उन्हें पास की गंगा में फेंक आते हैं। भगवान राम ने भिल्लनी शवरी के जूठे वेर खाए थे न! प्रेम और समता की यह दूसरी मिसाल यहाँ देख लीजिए। सब जीव शिव हैं—इस सत्य के चूड़ांत निदर्शन हैं ये परमहंस रामकृष्णदेव।

इस परमहंसी स्वभाव का एक दूसरा करिश्मा देखिए। रामकृष्ण गंगा तट पर वैठे हैं। एक हाथ में कुछ सिक्के हैं और दूसरे में कुछ मिट्टी। सिक्के और मिट्टी को एक हाथ से दूसरे में अदल-वदल वे यों बोलते जाते हैं—'पैसा मिट्टी, मिट्टी पैसा'। कुछ देर बाद वे दोनों को एक साथ गंगा में फेंक देते हैं। आखिर पैसे और मिट्टी में फर्क ही क्या है? यह परमहंसी दृष्टि।

भला एक सर्वथा असाधारण महापुरुष को साधारण जन कैसे समझ पाते? लोग-बाग उन्हें पागल मानने लगे हैं। दरअसल उनपर एक पागलपन सवार था भी। वह था दिव्योन्माद—परमशक्ति के दर्शनों के लिए पागलपन। जो राम हैं, वही कृष्ण हैं; और फिर दुर्गामाता भी तो वही परमशक्ति हैं। दुर्गामाता की प्रतिमा के साथ रामकृष्ण हू-ब-हू वही व्यवहार करते थे जो एक हठीला-दुलारा वेटा अपनी स्नेहमयी माँ के साथ करता है। कभी-कभी वे घंटों बिलख-बिलखकर रोते हुए यों कहते—'कितनी कठोर हो गई है तू माँ, तेरा वेटा पत्थर पर सर पटक रहा है और तेरे कानों में जूँ तक नहीं रेंगती! मैं अधीर हूँ माँ, मुझे दर्शन दे।'

कहते हैं परमहंसदेव को माँ के दर्शन प्राप्त हुए थे। मानना चाहिए कि अपने अलौकिक भावावेश में उन्होंने माँ की परमज्योति का साक्षात्कार अवश्य किया होगा!

खिल गया—कमल
सौरभ छा गया दिगंत में

'कमल के खिलने पर भ्रमरों को बुलाना नहीं पड़ता।' रामकृष्ण का मानस-कमल खिल गया था और भक्त-भ्रमर चारों ओर से मँडलाते हुए आने लगे थे। इस सहस्रदल कमल में भक्ति का मधु-मरंद लबालब भरा पड़ा था। जो भी आता वह परमहंसदेव के वचनामृत को छककर पी अपने को धन्य मानता।

मधु-मिसरी-सी मीठी थी रामकृष्ण की वाणी। वे जगद्गुरु थे, किंतु उनमें गुरुडम नाम का भी नहीं था। उपदेश देते तो ऐसा नहीं लगता कि कोई अपने ज्ञान का बोझ सुननेवालों पर लाद रहा है। बोलते तो लगता उनके मुँह से फूल झड़ रहे हैं जिन्हें श्रद्धा के धागे में पिरोकर लोग अपना कंठहार बना लेते। जानी-पहिचानी कहावतों और दृष्टांतों के द्वारा वे गूढ़ तत्त्व

कह देते थे। सरल-सुबोध भाषा; न कहीं पंडिताऊपन और न कहीं कोई पेचीदापन ! उस अनुपम सरलता की एक बानगी देखिए—

आनंदमूर्ति रामकृष्ण अपने भक्तों से बातें कर रहे हैं। किसी की पीठ थपथपाते हैं तो किसी के कान उमेठ देते हैं। गृहस्थ भक्तों से कहते हैं—"ठीक है, दुनिया में रहो किंतु दुनियादारी से बच-बच के। हाथ में तेल लगाकर कटहल काटो।' संन्यास के इच्छुक भक्तों से ज्ञानयोग और भक्तियोग की चर्चा करते हुए कहते हैं—'ज्ञानयोग सबसे ऊँचा है, किंतु सबके लिए वह सुगम नहीं। जानते हो, ज्ञान पुरुष है जिसकी पहुँच दरवाजे तक ही है; भक्ति नारी है जो आँगन के भीतर आसानी से बेरोकटोक पहुँच जाती है—भगवान को पाने का सुगम मार्ग है उनकी भक्ति !' इस बीच किसी ने यह सवाल परमहंसदेव से पूछ दिया—'आप तो सिद्ध पुरुष हैं; अद्वैत-भाव का बोध आपको हो चुका है। फिर भी आप नृत्य-गीत और कीर्त्तन-भजन का यह तमाशा क्यों लगाए रहते हैं ?" परहंसदेव हँसकर उत्तर देते—'अजी, मैं चीनी खाना चाहता हूँ, चीनी बनना नहीं चाहता !

रामकृष्ण अपने सभी भक्तों को लोक-कल्याण के लिए काम करने का उपदेश देते हैं। कहते हैं—'यह काम तभी संभव है जब आदमी को अहंकार से छुटकारा मिल जाए। जानते हो, जाति-धर्म, माल-मिलकियत तथा मान-मर्यादा को लेकर जो अभिमान है वह तो 'कच्चा-अभिमान' है। मैं भगवान का दास हूं, उनका भक्त हूँ—यह है पक्का अभिमान'। यह पक्का अभिमान सभी भक्त अपने हृदयों में सँजोकर रखते हैं। भक्त-शिरोमणि तुलसीदास इसे एक क्षण भी भूलना नहीं चाहते।

'अस अभिमान जाइ नहिं भोरे
मैं सेवक रघुपति पति मोरे'

'मरण तुम छले गए'

रामकृष्ण जैसे महापुरुष धरती की शोभा बढ़ाते हैं। ऐसे सपूतों को जन्म देकर धरती माता सचमुच गौरवशालिनी होती है। ऐसे महापुरुषों की प्रेरणा से सृष्टि सुन्दर से सुन्दरतर होती है; वह मंगल की ओर बढ़ती है। भारतीय धर्म और संस्कृति के उद्धार और प्रचार-प्रसार के कर्म-यज्ञ में रामकृष्ण अपने जीवन की आहुति देते गए, देते गए !

आखिरकार १८८६ के आते-आते उनकी शारीरिक शक्ति चुक गई। वे बीमार हो गए। कठिन साधना और फिर रोग के कारण उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया; किंतु उनके मन की ताजगी में थोड़ी भी कमी नहीं आई। वह अब भी सुबह के खिले गुलाब-सी बनी थी। कंठ में कैंसर के घाव की तीव्र पीड़ा के बीच भी उनकी विनोदप्रियता और जिंदादिली पहले जैसी ही बनी रही। अपने शरीर की चिंता उन्हें बिलकुल नहीं थी। उन्हें संतोष था कि उन्होंने अपना काम बहुत हद तक पूरा कर लिया है। वे आश्वस्त थे कि उनका काम आगे चालू रखने के लिए उन्हें एक योग्य उत्तराधिकारी भी मिल गया है। ये उत्तराधिकारी थे—नरेन्द्रनाथ, जो आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द के नाम से सारी दुनिया में मशहूर हुए।

परमहंसदेव रोग-शय्या पर पड़े हैं। उनके इर्द-गिर्द श्रद्धालु युवकों की एक खासी बड़ी मंडली उनकी सेवा के लिए दिन-रात जुटी हुई है। कैंसर की पीड़ा से कराहते हुए परमहंसदेव से एक युवक शिष्य ने कहा—"गुरुदेव ! आपने अपनी सार-सँभाल का भार तो माँ काली पर रख छोड़ा है। माँ बड़ी कृपामयी हैं। आप उनसे एक बार कहिए न—'माँ, मुझे रोग-मुक्त कर दे !' वे निश्चय आपकी सुनेंगी !" सुनकर रामकृष्ण मुस्कुराए और कहा—'अरे, तुमने यह क्या कहा ? मान लो, तुम किसी महारानी के दरबार में पहुँच गए हो। महारानी तुम पर खुश होकर कहती हैं—'वर माँग !' तब तुम क्या उनसे कुम्हड़ा माँगोगे ?' परमहंसदेव के इस मधुर विनोदभरे प्रत्युत्तर पर शिष्यगण हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए।

रोग बढ़ता गया और रामकृष्ण यों कहते रहे—

'देह जाने, दुःख जाने, मन, तुमि आनंदे थाक।' 'देह जाने, दुःख जाने, किन्तु मेरे मन ? तू आनन्द में रह, तू प्रभु-चिंतन में मगन रह !' और प्रभु-चिंतन में मगन इस महापुरुष की माटी की काया को एक दिन मरण उठाकर ले गया। बेचारा मरण ! केवल सूनी दीवट उसके हाथ लगी। दीपक तो यहीं रह गया ! परमहंस रामकृष्ण मरकर भी अमर हैं। उनके देहांत के बाद स्वामी विवेकानन्द के मुख से निकली जो अमृतमयी वाणी देश-देशांतर में गूंजी, उनमें रामकृष्ण ही तो बोल रहे थे ! और आज भी 'रामकृष्ण-मिशन' के द्वारा लोक-कल्याण का जो अभियान चल रहा है उसका मार्ग-दर्शन रामकृष्ण ही तो कर रहे हैं ! इसीलिए कवि का कहना ठीक है—

'मरण ? तुम छले गए।
तुम केवल सूनी दीवट लेकर चले गये !'

दरअसल रामकृष्ण जैसे महापुरुषों के बिना भगवान का नाम नहीं चल सकता। सृष्टि के उत्तरोत्तर विकास का जो ईश्वरीय मंगल-विधान है, वह इन अमर महात्माओं के द्वारा ही पूरा होता है। मरने के कुछ समय पहले स्वयं परमहंसदेव ने अपनी काली माँ से यों शिकायत की थी—'माँ ! मेरा यह शरीर तो एक ढोल है। उसे तू यदि इस प्रकार लगातार ठोकती रहेगी, तो न मालूम वह किस समय फूट जाए ! और तब माँ, भला तू क्या करेगी ?'

ठीक ऐसी ही बात विश्व-प्रसिद्ध जर्मन-कवि रिल्के (Rilke) ने अपने विषय में कही थी—

"यदि मैं मर गया तो तुम्हें कैसा लगेगा मेरे प्रभु ! मैं तो तुम्हारा मंगल-कलश हूँ; भला तुम क्या करोगे यदि मैं टूट-फूट गया ? मैं तो तुम्हारा पेय-शर्बत हूँ, यदि मैं पीने लायक नहीं रहा तो तुमपर कैसी बीतेगी ! तुम्हारी पोशाक हूँ मैं, और तुम्हारा पेशा भी तो मुझको ही लेकर है। मुझे खोकर तो तुम्हारा सारा प्रयोजन ही खो जाएगा !"

[What will you do God, if I die. I am your jug. What if I am smashed ? I am your drink, what if I go bad ? I am your cloth and your trade; if you lose me, you lose your purpose.]

निस्संदेह परमहंस रामकृष्ण जैसे अमर महात्माओं के बिना भगवान का काम नहीं चलेगा। इसीलिए गीता में भगवान कृष्ण ने हमें यह आश्वासन दिया है—

'कौन्तेय ! प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'
'कुन्ती-पुत्र अर्जुन ! विश्वास करो, मेरे भक्तों का कभी भी विनाश नहीं होता !'

('आनन्द' दिसम्बर, ८३ से साभार)

प्रकृति का परिवर्तनशील विज्ञान, मृत्यु का, दुःख का, पीड़ा का संसार, श्रेष्ठ—निश्चय ही श्रेष्ठ हो सकता है; लेकिन ईश्वर का विज्ञान—जो परिवर्तित नहीं होता, जो आनन्दपूर्ण है, केवल जहाँ पर ही शान्ति है, मात्र जहाँ ही आन्तरिक जीवन है, केवल जहाँ ही दुःख का अन्त होता है—वह, हमारे पूर्वजों के अनुसार, सब से मनोरम और श्रेष्ठ विज्ञान है।—

—स्वामी विवेकानन्द

राम-कृष्ण : रामकृष्ण

—शितिकंठ बोधिसत्व
छपरा (बिहार)

जो श्रीराम हैं, श्री कृष्ण हैं, वे ही श्री रामकृष्णदेव हैं। इस परम लोकोत्तर अवतारत्रय में एक के साथ दूसरे की विभिन्नता से अधिक अभिन्नता ही मूर्त्त अथवा प्रत्यक्ष लगती है। विभिन्नताएँ बाह्य एवं देशकालगत हैं, अभिन्नता अविनाशी या सनातन है। यह दूसरी बात है कि अभिन्नता इतनी अद्‌भुत है कि उसका वर्णन करना असंभव है। अभिन्नता आत्मगत है, स्वरूप एवं स्वभावगत है, देशकालगत नहीं। इस तरह वह अकथ अगोचर या शब्दोत्तर है। यद्यपि हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त अवतारत्रय भगवान विष्णु के ही हैं और इस प्रकार इनमें परस्पर अभिन्नता का होना शास्त्रीय दृष्टि से अनिवार्य ही होना चाहिए। किन्तु अभिन्नता के इस प्रकार से समझे जाने से उसकी वास्तविक अवगति से हम वंचित रह जाते हैं। कारण यह है कि अभिन्नता अत्यन्त गहन है, सम्पूर्ण सत्य है और उसकी अवगति चेतना के परम शीर्ष पर ही संभव है जहाँ अंतर्मौन की पाठशाला में ज्ञानगुरु का शक्तिपात होता है। जो भी हो, दूसरी तरह से देखने पर भी, यह स्पष्ट है कि श्री रामकृष्ण परमहंसदेव में श्री राम और श्री कृष्ण की तरह ही व्यापकतम स्तर पर लोक-मांगल्य सिद्ध करने की अजस्र, महासागरीय ऊर्जा का विकास हुआ था।

इस तरह यह स्पष्ट है कि श्री राम एवं श्री कृष्ण की तरह श्री रामकृष्णदेव भी प्रातः तथा सतत् स्मरणीय हैं। स्मरण और नमन, अर्चना और वंदना, आराधना और उपासना से नवधा भक्ति के जिस साधन-क्रम का उदय होता है और वह पूर्व के जिन अवतारों के प्रति नियोजित होती है, उसी प्रकार श्री रामकृष्णदेव भी नवधा भक्ति के परम पूर्ण आलम्बन के रूप में सदैव उपास्य हैं। श्री रामकृष्ण वर्त्तमान काल के युगावतार हैं और इस कारण वे सहज ही भक्तों के भगवान और प्रेमियों के लिए परम प्रेमास्पद हैं।

भगवान का अवतार उनकी अपनी आत्मशक्ति से ही फलीभूत होता है। इस आत्मशक्ति या निजशक्ति को ही श्री कृष्ण ने भगवद्‌गीता में इस प्रकार अभिव्यंजित किया है "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।" अर्थात् भगवान कहते हैं कि ईश्वर होने पर भी मैं स्वयं अपनी प्रकृति को अपने अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। अगले श्लोक में भगवान कहते हैं कि "तदात्मानं सृजाम्यहम्।" अर्थात् मैं स्वयं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् मैं स्वयं अपनी मौज से ही अपना सृजन करके प्रकट हो जाता हूँ। भगवान के अवतार के घटित होने का कारण उनकी अपनी योगमाया या आत्मशक्ति ही है—उनकी अपनी अकथ, अहैतुकी महाकरुणा ही है।

श्रीरामकृष्णदेव का नर-लीला के लिए देह-धारण करना इसी लोकोत्तर कोटि का है। वह परमेश्वर की अहैतुकी महाकरुणा का ही अमृत महाफल है। उनके दिव्य, अलौकि उद्‌भव की कथा पर ध्यान देने से श्रीकृष्ण की यही वाणी चरितार्थ होती है: "जन्म कर्म च मे दिव्यम्"। अर्थात् श्रीरामकृष्ण के जन्म एवं कर्म श्रीकृष्ण के उद्‌भध और उनकी लीला की तरह ही परम दिव्य और लोकोत्तर हैं। और जिस तरह श्रीकृष्ण ने कहा है कि उनके उद्‌भव की दिव्यता को तत्व से जाननेवाला जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है, उसी तरह श्रीरामकृष्ण के अवतार तत्व से अवगत होने पर सामान्य जीव भी जीवन मुक्त एवं विदेह-मुक्त हो जाता है। भगवल्लीला के चिंतन से उनमें

श्रद्धा-विश्वास पूर्वक आत्मीयता का विकास होता है। श्रीरामकृष्णदेव की लोक-लीला इस अर्थ में विकास के सभी क्रम-विन्दुओं पर दिव्य भगवच्चिंतन का परम आलम्बन है।

यह ठीक है कि प्रभु इस बार गाँव की छोटी-सी कुटिया में अवतरित हुए किन्तु अयोध्या या मथुरा से कामारपुकुर की दिव्यता, धन्यता या तीर्थवरिष्ठता में कोई भेद या किसी प्रकार से कोई अन्तर नहीं है। तीर्थ-प्रेमियों के लिए महातीर्थ है वह पावन कामारपुकुर ग्राम ! युगावतार भगवान रामकृष्ण की बाल-लीला की आदि पावन भूमि का धन्यतामंडित सरल परिदृश्य ! बहुत सारे भक्त एवं प्रेमी प्रभु की बाल-लीला के भाव-चिन्तन में रुचि रखते हैं। इस प्रकार के अनुरागियों के लिए प्रभु की बाल-लीला, अपने विशिष्ट प्रकार से, रामावतार तथा कृष्णावतार की लीलाओं की तरह ही दिव्यता एवं चिन्मयता से मंडित होने के कारण अत्यंत आकर्षक और उपयोगी है। उद्भव की अलौकितता, वाल्यावस्था की मधुरता, सरलता, आत्मीयता और रुचिपूर्वक होनेवाली क्रियाओं में उनकी अद्भुत तन्मयता—ये सब महेश्वर-महापुरुष के द्वारा जीवन-पथ पर बिखेरे हुए ऐसे साधन-तत्व हैं, जिनके सम्यक् चिन्तन से ही दिव्य रूपान्तरण घटित होता है।

एक और दूसरी तरह से—ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि श्रीरामकृष्णदेव में एक ही साथ श्रीराम की लोक-मर्यादा को धारण करनेवाला अनंत शील, मांगल्य, सद्भाव और श्रीकृष्ण की योगस्थ असंगता एवं चिदानंदमय महारस में परम सिद्धि का क्रमिक एवं पूर्ण प्राकट्य हुआ था। श्रीरामकृष्णदेव में एक ही साथ धर्मों, संस्कृतियों की मर्यादा और चिदानंद-रसमयता का प्राकट्य अत्यन्त अद्भुत है। इतना आश्चर्यजनक होते हुए भी सहसा हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर न जाने का कारण यह है कि मानवीय इतिहास-चेतना के संदर्भ में श्रीपरमहंसदेव को हम इतना समकालीन अनुभव करते हैं कि उन्हें भी हम अपनी ही तरह कालावच्छिन्न-सा देखने लगते हैं। वस्तुतः श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीरामकृष्णदेव के सनातन व्यापकतम संदर्भ में काल के किसी अन्तराल या अवच्छिन्नता का कोई महत्व रह नहीं जाता है। इस अर्थ में श्रीराम व श्रीकृष्ण की तरह श्रीरामकृष्णदेव भी पवित्र, निरंजन, अविनाशी भगवन्नाम है।

भगवान रामकृष्ण अक्सर बताते थे कि भगवान या ईश्वर स्वयं सच्चिदानन्द सद्गुरु होते हैं—दूसरा कोई नहीं। जीव के निस्तार के लिए, साधुओं के परित्राण-हेतु, धर्म मर्यादा की अनुभूति-गंगा-गीता के जीवंत, सनातन महाप्रवाह को संशुद्ध और अक्षुण्ण रखने के लिए, स्वयं प्रभु ही संत सद्गुरुदेव की अद्भुत लीला को आचरित करते हैं। धर्म-संस्थापन मानवीय इतिहास की गंभीरतम प्रक्रिया है जो अवतार-गुरु को केन्द्र में रखते हुए उनकी बहुआयामी शक्तियों से अति सूक्ष्म तल पर घटित होना प्रारंभ होकर उनके अन्यतम पार्षदों और अनन्य अनुयायियों द्वारा क्रमशः बृहत्तर वृत्तों में संक्रमित होती जाती है। जिस तरह श्री राम के आभामंडल में स्थित वानरगण, सामान्यतम पुरुष-नारी, ऋषि-महर्षि व अन्य जीवों के धर्म-कर्म संशोधित हुए, उनका जीवन रूपांतरित हुआ और उन्हें अनन्त धाम प्राप्त हुआ था, उसी तरह श्रीरामकृष्णदेव को केन्द्र मानकर—उनके अन्यतम पार्षदों के अतिरिक्त—अनेकों को अमर एवं अविनाशी जीवन की उपलब्धि हुई।

इस प्रकार गोसाईं जी ने जैसे श्रीराम की स्तुति में उन्हें "रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं" कह कर वन्दना की है, अथवा जैसे श्रीकृष्ण को "कृष्णं वन्दे जगद्-गुरुं" कहकर प्रणाम किया जाता है, वैसे ही "वन्दे श्रीरामकृष्णं सुरगुरुं जगद्गुरुं च"—इस उक्ति से श्रीरामकृष्ण भी परम नमस्य और वन्दनीय हैं।

□

परमहंस की फौज

—ब्रह्मचारी वरदा चैतन्य
रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, पुरुलिया।

'परमहंस की फौज चल रही—यह व्यंगोक्ति चली आती है
चपल-चटुल नागरिकों के अलग-अलग समूहों से।
वे अब भी हैं। राह किनारे के डस्टबीन से,
कूड़े-कचड़ों के पास से, अंधकार भरी चाय की दूकानों से
या खुली दीवारों के निकट खड़ी इकट्ठी भीड़ से

कोई प्रगल्भ तरुण बोल उठा—
'अरे, वहाँ परमहंस की फौज चल रही'
उसने सही पहचाना है।
विद्रूप की तीक्ष्णता को भेदने से
सचमुच अर्थ को ढूँढ़ा जा सकता है।

वे सब रामकृष्ण की फौज हैं,
वे चलते हैं, चलेंगे
संभवतः हजार वर्षों के पथ की परिक्रमा की
यह शुरुआत है।
तथागत की अहिंसक सेना—
मुंडित मस्तक श्रमणों का दल—जिस प्रकार एकबार
दिग-दिगन्त में फैल गयी थी
दुर्गम गिरि-कान्तार के दुर्लंघ्य प्राचीर को पारकर
मनुष्य की उन्मत्तता के उत्तुंग शिखर को लाँघकर
हृदय के गोपन अभ्यन्तर पर उसने पायी थी विजय
प्रेम-प्रीति और अहिंसा की गैरिक पताका
आकाश के विस्तृत वक्ष पर कितने युगों तक लहराती रही
उसी प्रकार

रामकृष्ण की फौज आज निकल पड़ी है
गरल भरी पृथ्वी के विषाक्त वक्ष पर
भाइयों के रक्त से क्लेदान्त भूमि पर
यह फौज रोपेगी
महामिलन का पवित्र पादप।

□

श्रीरामकृष्ण : कुछ ऐतिहासिक तात्पर्य

— स्वामी सोमेश्वरानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

प्रसिद्ध ऐतिहासिक ऑर्नल्ड टोयनबी ने विश्व-इतिहास का विवेचन करते हुए जिस 'चुनौती और उत्तर' (चैलेंज एण्ड रिसपॉन्स) की बात कही है वह ब्रिटिशकालीन भारत में भी देखी गयी थी। विदेशी साम्राज्यवादी आक्रमण के समक्ष होकर भारतीयों ने किस प्रकार उसका मुकाबला किया था, इस सम्बन्ध में इतिहासवेत्तागण 'राममोहन — डिरोजिओ-विद्यासागर देवेन्द्रनाथ ठाकुर की कथा की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं। वे सब भूल ही जाते हैं कि उन दिनों चुनौतियों का उत्तर केवल शिक्षित समाज ने ही नहीं दिया, बल्कि अपढ़-दरिद्र भारतीयों ने भी दिया था। सिपाही विद्रोह के पहले ही हो चुका था संन्यासी-विद्रोह, चुआर विद्रोह और संथाल विद्रोह। बाद में १८६० ई० में निलहों का विद्रोह हुआ था, १८६१ ई० से ६८ ई० के बीच आसाम, पूर्वी बंगाल और दक्षिण भारत के विभिन्न क्षेत्रों में कृषक-विद्रोह हुआ था तथा १८७७-९० ई० में नागपुर, बम्बई और मद्रास में श्रमिकों का विक्षोभ प्रदर्शित हुआ था।

राममोहन राय से लेकर देवेन्द्र नाथ ठाकुर तक नवजागरण के सारे ऋत्विक पश्चिमी विद्या के सुपंडित तथा यूरोपीय पुनर्जागरण (रेनेसाँ) के उत्तराधिकारी थे। और उन्हीं दिनों श्रीरामकृष्ण आविर्भूत हुए थे साधारण भारतीयों के ही एक स्वजन होकर। बंगाली-मानस की भारतमुखीनता और व्यक्ति-स्वाधीनता ने तत्कालीन समाज को स्पन्दित कर दिया था। नवजागरण के ऋत्विकगण जातीयता-बोध से उद्दीप्त हो उठे थे। देवेन्द्र नाथ और बंकिम चन्द्र का स्वधर्म-प्रेम दर असल स्वजाति-प्रेम का ही प्रकाश था तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की धोती-चादर और चप्पल भी यही थी। किन्तु उनलोगों के सामने समस्या थी पहचान के संकट (identity crisis) की—विश्वसंस्कृति में शरीक होने पर अपनी संस्कृति से कितना अंश ग्रहण करेंगे और कितना अंश छोड़ देंगे, इस प्रश्न से ही तत्कालीन शिक्षित समाज दोलायमान था। उपनिषदों के प्रवक्ता होकर भी देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने प्रतिमा-पूजन और संन्यास को अस्वीकारकर भारतीय लोक-जीवन की विचित्रता का ही परित्याग किया था। श्रीकृष्ण के चरित्र को काट-छाँटकर 'मार्जित' करने के समय बंकिमचन्द्र भारत की यह मर्मकथा भूल गये थे—'देवतारे प्रिय करि, प्रिय रे देवता।'—(देवता को प्रिय करूँ, प्रिय को देवता)। वेदान्त और सांख्य दर्शन को भ्रान्त कहने के समय विद्यासागर ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि इसी दार्शनिक विचार-धारा ने अनेक भारतीय ऋषियों को जन्म दिया था। अतएव, विचार का आश्रय ग्रहण कर राममोहन राय और बंकिमचन्द्र, मानवता का आधार लेकर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, साहित्य में रस-सृष्टि के माध्यम से माइकेल मधुसूदनदत्त तथा उन्नत जीवन के माध्यम के द्वारा देवेन्द्रनाथ ठाकुर उन दिनों देशवासियों के सामने उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति विराजमान थे।

जातीयता-अन्तर्जातीयता की इस समस्या की ओर उन दिनों संकेत किया था श्रीरामकृष्ण ने। उनकी 'अनेक साधनाओं की धारा' का धार्मिक तात्पर्य तो हमलोग जानते हैं, किन्तु उसका सामाजिक-ऐतिहासिक तात्पर्य क्या था? एक ओर वे तोतापुरी का शिष्य होकर निर्गुण-ब्रह्म की साधना करते हैं, दूसरी ओर काली, राम, शीतला, दुर्गा, शिव—इन सबकी उपासना में भी रत हैं, और फिर वे ही इस्लाम और ईसाई धर्मों की साधना करते हैं। उस समय के भारत में धार्मिक आन्दोलनों का अभाव तो था नहीं। दयानन्द

सरस्वती के नेतृत्व में आर्य समाज समग्र उत्तर भारत में फैल गया था। कलकत्ता को केन्द्र बनाकर ब्रह्म समाज तथा मद्रास को केन्द्र बनाकर थियोसॉफिकल सोसाइटी ने तत्कालीन जन-मानस को आन्दोलित कर दिया था। इन सबके साथ-साथ श्रीरामकृष्ण ने क्या दिया? राजा राममोहन राय ने जब कहा कि, एकेश्वरवाद ही भारतीय धर्म का स्वरूप है एवं बहु-देव-देवी की प्रथा अनार्य संस्कृति के अपजात के लक्षण हैं, तब मन में यह प्रश्न उठता है—राममोहन द्वारा कल्पित इस भारतवर्ष में कोल-भील, मुण्डा-संथाल आदि का स्थान कहाँ है? तब वे भी क्या केवल भारतीय होने के लिए चाँद बोंगा, सिहबोंगा (चंद्र-देवता-सूर्य-देवता) सब को गंगा के जल में प्रवाहित कर देंगे? श्रीरामकृष्ण ने दिखलाया कि यदि भारत को समझना है तो एकेश्वरवाद के साथ-साथ लोकधर्म (folk-religions) को भी लेना होगा, कारण इन लोकधर्मों के बीच से ही अभिव्यक्त होती हैं निम्न जाति तक के जन-साधारण की हँसी-रुदन-आनन्द-वेदना, सहज सरल जीवनधारा की स्वतः स्फूर्त्त भावना और लालसा। उन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) जो संकेत दिया उसका तात्पर्य हुआ यह कि अद्वैतवादी के 'अहं ब्रह्मास्मि' मंत्र से जो भारत प्रतिफलित होता है, वह भारत ही प्रतिफलित होता है संथालों के मादल (एक प्रकार का ढोलक) की ध्वनियों से, आदिवासी महिलाओं के 'टूसू गान' (सूर्य-गान) से, संध्या वेला में तुलसी के बिरवे तले जला देने वाले दीपक के प्रकाश से। दयानन्द सरस्वती ने जब आर्य सभ्यता और संस्कृति के ऊपर बल देकर आर्यसमाज का गठन किया तब मन में प्रश्न जगता है—जो द्रविड़ सभ्यता और संस्कृति युग-युग से भारत की आत्मा को पुष्ट करती आयी है, दयानन्द के भारत में उनका स्थान कहां है? श्रीरामकृष्ण देव की विभिन्न साधनाओं के बीच से जो संकेत प्रस्फुटित हुआ उसका तात्पर्य यह हुआ कि भारत को समझने के लिए आर्य और अनार्य दोनों ही संस्कृतियों को ग्रहण करना होगा। इस रूप में श्रीरामकृष्ण ने भारत की आत्मा का उद्धार किया, पथहारा बालक को अपने घर की पहचान करवा दी। उन्होंने कहा—यह सब लेकर ही भारत है।

किन्तु वे वहीं नहीं रुके। उन्होंने साधना की इस्लाम और ईसाई धर्मों की भी। अर्थात् उन्होंने कहना चाहा—इस बार बाहर भी अवलोकन करो, देखो अन्यान्य जातियाँ क्या सोचती हैं, क्या चिंतन करती हैं। केवल अपने घर को पहचानने पर मनुष्य मतान्ध हो जाता है, कुएँ का मेढ़क हो जाता है। फिर देशज संस्कृति को छोड़कर अन्तर्जातीय हो जाने पर मनुष्य उस वायवीय अन्तर्जातिकता में परिणत हो जाता है, बेबिलोन के सूने उद्यान में पर्यवसित हो जाता है। इसलिए पहले अपने देश की संस्कृति में आत्मस्थ होना होगा इसके बाद विश्वजनीन भावों को वरण करना होगा, विश्वपथिक होना होगा। पिछली शताब्दी के भारत में देशवासी 'पहचान के संकट' (आइडेन्टिटी क्राइसिस) को भोग रहे थे। एक ओर विदेशी संस्कृति का आक्रमण, दूसरी ओर बुद्धिजीवियों की अति क्रान्तिकारी विचारधारा में भारतीय जनगण अपने ऊपर से विश्वास खो बैठे थे। अपनी पारम्परिक विचारधारा, धर्म और संस्कृति को घृणा करने लगे थे। श्रीरामकृष्ण ने देशवासियों को आत्म-श्रद्धा लौटा दी, वे अपनी संस्कृति में आस्था लेकर आए, पहचान के संकट (आइडेन्टिटी क्राइसिस) के हाथ से उन्होंने लोगों को मुक्त किया।

'माँ, मुझे रसपूर्ण बनाये रखो, मुझे शुष्क संन्यासी नहीं बनाओ'—इस उक्ति के माध्यम से श्रीरामकृष्ण ने अपनी गंभीर इतिहास-चेतना का परिचय दिया था। बुद्धदेव दुःख को ही बढ़ाकर पकड़े हुए थे। उन्होंने कहा था—'दुःख है, दु,ख से निवृत्ति का मार्ग भी है।' संन्यास के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति ही उनकी कामना थी। किन्तु, परवर्त्ती युग में उसे बौद्ध श्रमण पूर्णतः मानते नहीं रह पाये। शिल्प के द्वारा उन बौद्ध संन्यासियों ने इस जीवन में ही आनन्द की तलाश की थी—अजन्ता की गुफाओं और बौद्ध-स्तूपों में उसी आनन्द की अभिव्यक्ति हुई है। इस्लाम धर्म में संगीत निषिद्ध है (कुछ क्षेत्रों को छोड़कर), किन्तु भारतीय

मुसलमान इसे नहीं मानते। तानसेन से शुरू कर बड़े गुलामअली, अल्ला रखा, विलायत खाँ आदि असंख्य भारतीय मुसलमान संगीत के द्वारा आनन्द की ही खोज करते आये हैं। ब्राह्मसमाज के कठोर नीतिवाद को अग्राह्यकर रवीन्द्रनाथ जीवन के स्तर-स्तर पर आनन्द का संधान कर गये हैं—अपने गानों, नृत्यों, नाटकों और शिल्पों के द्वारा। असल में भारत की साधना में त्याग और आनन्द ये दोनों ही धाराएँ सहगामिनी रही हैं। त्यागविहीन आनन्द अथवा आनन्द विहीन त्याग—यह एकांगी दृष्टि भारतात्मा की मर्मवाणी नहीं है। भारत के ऋषि-मुनियों ने ब्रह्म को 'आनन्द' की अभिधा दी है (आनन्दो ब्रह्मेति), 'रसो वै सः 'कहकर सत्य का निर्देश किया है, जगत् और जीवन को देखा है इसी आनन्दमय ब्रह्म के ही प्रकाश के रूप में। इसीसे एक ओर जिस प्रकार असंख्य साधु-संन्यासियों की सृष्टि यह देश करता है, उसी प्रकार खजुराहो, कोणार्क और पुरी के मन्दिरों की दीवारों पर तथा एलोरा की गुफाओं में अंकित करता है विचित्र वन्दना की स्तुति। आनन्दविहीन त्याग के बौद्ध-निर्वाण को जिस प्रकार इस देश में मान्यता नहीं मिली, उसी प्रकार त्यागविहीन आनन्द का चार्वाक्-दर्शन भी इस देश के जन-मानस को प्रभावित नहीं कर पाया। भारत की इस मर्मवाणी का ही उद्धार किया था श्रीरामकृष्ण ने 'आनन्दमय संन्यासी' होकर। एक ओर जिस प्रकार वे काम-कांचन के त्याग के मूर्त्त प्रतीक थे, उसी प्रकार दूसरी ओर वे ही सुन्दर चित्रों का अंकन करते, अपूर्व प्रतिमाएँ गढ़ते, नाटकों की सृष्टि करते और सुन्दर अभिनय करते। संगीत में थी उनकी सहज दक्षता और कथा-वार्त्ता में वे थे उच्च श्रेणी के कुशल वक्ता। शिल्प और सौन्दर्य बोध को आत्मस्थ कर वे त्याग की मूर्त्ति हो उठे थे।

□

परमहंस से भेंट

—श्री सृष्टिधर भट्टाचार्य

[श्रीयुत सृष्टिधर भट्टाचार्य की डायरी से संग्रहीत एवं श्रीयुत् प्रथमनाथ बिशी द्वारा संपादित 'कथा साहित्य' शारदीया संख्या १३८५ से प्रस्तुत रचना लेकर हिन्दी में अनूदित किया है--रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञा चैतन्य महाराज ने—विवेक शिखा के लिए।—सं०]

मेरे दो शौक हैं। एक तो कौतूहल-निवारण और दूसरा डायरी लिखना। शैशव की बातें तो भूल चुका हूँ, पर बचपन की बातें अभी भी याद हैं। पेड़ के ऊपर कोई नया पक्षी देखते ही उस पर ढेले फेंककर देखा करता कि कहाँ जाता है, क्या करता है। जितनी दूर संभव होता, मैं उसे अपलक देखता रहता। फिर मैदान में गिरगिट देखकर उसका पीछा करता। मेरे गाँव के बाहर ही एक बड़ा मैदान है जिसके बीच-बीच में बेर व खजूर के पेड़ व जंगली झाड़ियाँ हैं। खजूर तो ज्यादा नहीं मिलते पर बेर जैसे भी मिलते नमक के साथ खा लिया करता। नमक हमेशा जेब में ही रखा करता था। यह सब था कौतूहल के कारण। उसके बाद उमर बढ़ी, लेकिन कौतूहल नहीं गया। पर हाँ, कौतूहल-निवारण का लक्ष्य जरूर बदल गया। अब बड़े हो जाने पर मेरे कौतूहल-निवारण का प्रधान लक्ष्य है—देश के गण्यमान्य व्यक्तियों से साक्षात्कार करना। इसके साथ ही साथ मुझे डायरी लिखने की आदत भी लगी।

चालीस साल की आयु तक पहुँचते-पहुँचते मैंने पाया कि पाँच-सात जिल्द बँधी मोटी-मोटी नोट-बुकें भर गयी हैं। नोट-बुकों की संख्या अभी भी बढ़ती जा रही है। मैंने गृहस्थी नहीं की और मेरी जरूरत भर का थोड़ा-बहुत सामान किसी तरह जुट जाने पर मैं अपनी कुतूहल-निवृत्ति के कार्य में लग जाता हूँ। पहले से ही निश्चित रहता है कि किस दिन किसको पकड़ूँगा। एक

दिन नैहाटी जाकर संजीव बाबू को पकड़ा और पूछ-ताछ कर पहले ही जान लिया कि बङ्किम बाबू अपने कार्यस्थल नैहाटी में नहीं है। पर संजीव बाबू घर छोड़ कर कहीं भी नहीं जाते थे और किसी आगन्तुक को निराश भी नहीं करते। उनकी बातें और किसी दिन विस्तारपूर्वक कहूँगा। आज उनका उल्लेख मात्र करता हूँ; क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं के कहने पर मेरे दिमाग में डायरी लिखने की बात आयी। उन्होंने कहा था—"अरे भट्टाचार्य, यह जो भिन्न-भिन्न लोगों के साथ मिलते हुए घूम रहे हो, उसका विवरण लिखकर क्यों नहीं रखते ?" विस्मित होकर मैं बोला—"क्या होगा, बाबू ?" "और कुछ हो या न हो", वे बोले—"बीच-बीच में पढ़ने पर मजा पाओगे। यूरोप में तो अनेक लोग नियमित रूप से डायरी लिखते हैं और बहुत से लोग तो प्रकाशित भी करवाते हैं...... ।"

उस समय तो बहाने बनाकर बच निकला, पर बात मेरे मन में बिंध गयी। बाद में देखा कि डायरी लिखना मेरे द्वितीय व्यसन के रूप में परिणत हो गया है। धीरे-धीरे मेरे सहकर्मियों को खबर लगी कि मैं डायरी लिखने लगा हूँ। उन्होंने मुझे नाम दिया 'कमलाकान्त द सेकण्ड' और कोई-कोई मुझे कहता 'कमलाकान्त द ग्रेट'। प्रसंगवश मैंने सहकर्मियों का उल्लेख किया है, आज उन्हीं की बात से आरम्भ करूँगा।

मैं बंगला की एक साप्ताहिक-पत्रिका में काम करता हूँ। हमारे जो सम्पादक हैं, वे हमारे मालिक भी हैं और हम चार कर्मचारी उनकी चार भुजाओं के समान हैं। शुक्रवार और शनिवार, इन दो दिनों तक हम रात-दिन परिश्रम करते हैं। कार्य का वैचित्र्य और परिमाण दोनों ही बहुत ज्यादा हैं। हम समाचार लिखते हैं यानी अंग्रेजी समाचार-पत्रों से अनुवाद करते हैं। जगह भरने के लिए, आवश्यकतानुसार समाचारों की सृष्टि भी करते हैं, फिर प्रूफ देखते हैं, छपाई हो जाने पर उसे मोड़ते हैं और डाकटिकट लगाते हैं। मेरे सहकर्मियों की तनख्वाह है नगद साढ़े सात रुपये और मेरी साढ़े सत्रह रुपये, क्योंकि मैं बी० ए० पास हूँ। वेतन की मात्रा देखकर आप अवश्य ही समझ गये होंगे कि मैं पत्रिका का नाम क्यों छिपा रहा हूँ।

एक दिन मालिक ने मुझे बुलाकर कहा—"ओ भट्टाचार्य ! क्या तुम स्कूल मास्टर की नौकरी ढूँढ़ रहे हो ? अरे, ऐसा काम भूलकर भी मत करना। मेहनत करते हुए मर जाओगे और हिसाब करके देखो, यहाँ का वेतन कोई कम नहीं है। वहाँ सप्ताह में सिर्फ एक दिन की छुट्टी मिलेगी और यहाँ मिलती है पाँच दिन की। यहाँ दो दिन परिश्रम करने पर साढ़े सत्रह रुपये महीना पाते हो और वहाँ छः दिन परिश्रम कर कितना पाओगे ? अतः ऐसी बात को मन में कदापि प्रश्रय न देना।

मैं वहीं रह गया। पहला कारण कि मैंने स्कूल मास्टर की नौकरी के लिए प्रयास ही नहीं किया और दूसरा कारण कि मैं अभी कलकत्ता छोड़कर जाना नहीं चाहता था। मालिक खुश हुए। उन्होंने सोचा कि चलो समाचार-पत्र का एकमात्र ग्रेजुएट हाथ से नहीं निकला। पर जिस घटना की वजह से निकला, आज उसी का विवरण देने बैठा हूँ।

*　　*　　*　　*

इसी बीच एक दिन मैंने सुना कि रामकृष्ण परमहंसदेव, जो अपने भक्तों के बीच ठाकुर के नाम से परिचित हैं, शाम को बागबाजार में एक भक्त के घर आयेंगे। उन दिनों मैं, उन्हीं भक्त के घर से थोड़ी ही दूर, श्यामबाजार में एक रिश्तेदार के यहाँ रहा करता था। बहुत दिनों से, अनेक लोगों के मुख से ठाकुर की बातें सुनता आ रहा था। लोग कहा करते थे कि वे ईश्वर-ज्ञानी पुरुष हैं। रानी रासमणि द्वारा निर्मित दक्षिणेश्वर की भवतारिणी काली के पुजारी के रूप में वे परिचित थे। पर ऐसे पुरोहित तो बहुत मिलते हैं ! कलकत्ता शहर और पूरे बंगाल में देवी-देवताओं का तो अभाव नहीं है और सभी मंदिरों में ही पुजारी हैं। पर ठाकुर के परिचय में कुछ विशेष बात थी। सुनने में

आता है कि वे माँ काली के साथ बातें करते हैं और माँ काली के मुख में अपने हाथ से ही अन्न के ग्रास डाल देते हैं और कभी उनके मुख में भोजन का ग्रास देते हुए अपने ही मुख में डाल लेते हैं। फिर कभी-कभी पूजा के फूल और बिल्वपत्र काली के चरणों में न देकर अपने ही सिर पर देते हुए 'शिवोऽहं' 'शिवोऽहं' करते हैं और उनके बादे गाते हैं 'माँ !तू मुझे कोल्हू के बँधी आँखों वाले बैल के समान और कितना घुमायेगी !' जिन लोगों ने अपनी आँखों से यह सब होते देखा है, उन्होंने रानी माँ के पास जाकर यह कहकर शिकायतें की हैं कि 'रानी माँ, आपने उस पागल को क्यों रखा है ?' रानी माँ ने उत्तर दिया था कि 'पागल है इसीलिए रखा है। पूजा करते हुए ऐसे पागल भला कितने लोग होते हैं ?' 'रानी माँ ! पर इससे पाप जो होता है !' रानी माँ कहतीं—'पाप होने पर माँ काली सपने में दर्शन देकर क्यों कहती कि मैं बड़े सुख से हूँ। नहीं, तुम लोगों को चिन्ता करने की जरूरत नहीं। उन्हें भगवान का अनुग्रह प्राप्त हुआ है।'

ऐसी बात नहीं कि सभी लोग ठाकुर से प्रसन्न हों। अधिकांश संसारी जीव वैषयिक प्रार्थना लेकर ही सिद्ध पुरुषों के पास जाते हैं, यथा—छोटे लड़के की बीमारी दूर कर दो; लड़की की शादी नहीं हो रही है, व्यवस्था कर दो; सांसारिक अभाव दूर कर दो। बस, ऐसी ही प्रार्थनाएँ और ऐसे लोग ठाकुर के उपदेश सुनकर हताश होकर लौट आते और कहते कि वह आदमी मिथ्याचारी और भण्ड है। असली चीज में ही धोखाधड़ी करता है।

तो भी, जो लोग धर्मभीरु थे, वे उनके पास सरल भाव से जाते और प्रसन्न व संतुष्ट होकर लौटते। लोग जब उन्हें पूछते कि वहाँ जाने से क्या मिला तो वे ठीक-ठीक जवाब न दे पाते, पर मौका मिलते ही फिर उनके पास चले जाते। मुझे तो अभी तक ऐसा सुयोग नहीं मिला था और सच कहूँ तो मैंने अभी तक इसके लिए ठीक-ठीक प्रयास भी नहीं किया था। सोचा, इस बार मौका नहीं छोड़ूँगा, उन भक्त के यहाँ, जहाँ ठाकुर के आने की बात है, अवश्य जाऊँगा। उन भक्त महोदय के साथ मेरा थोड़ा परिचय भी था, अतः सोचा कि कोई बाधा न होगी। पर बाधाओं की भी कोई सीमा है क्या ? वह एक शनिवार का—समाचार-पत्र के कार्यालय में व्यस्तता का—दिन था। रविवार के दिन सुबह पत्र निकलता है। मालिक के बैठकखाने में ही कार्यालय है। दरी के एक ओर वे मसनद का सहारा लेकर बैठते हैं और दूसरी ओर हम चार लोग। मालिक भी ऐरे-गैरे नहीं हैं, साक्षात् यमराज को भी धोखा देना उनके बाएँ हाथ का खेल है। इसलिये, उनसे अनुमति पाना बहुत आवश्यक है।

'सर !'

'क्या बात है भट्टाचार्य, यह लो एक पान खाओ।'

'सर ! थोड़ी-सी छुट्टी की जरूरत है।'

'छुट्टी ?' मानो ऐसी असंभव प्रार्थना उन्होंने जीवन में पहली बार सुनी हो, वे हड़बड़ा कर उठ बैठे—

'क्यों, स्कूल मास्टरी की तलाश में जाओगे क्या ?'

'उस दिन आपकी बात सुनकर मैंने अब उस रास्ते पर चलने की इच्छा छोड़ दी है। समाचार-पत्र में काम करने से बढ़कर दूसरी कौन-सी आजीविका है ?'

'सो तो समझोगे ही। दो दिन काम करके साढ़े सत्रह रुपये पाते हो—और स्कूल में······! खैर जो भी हो, एक ग्रेजुएट तो हो। तो फिर कहाँ जा रहे हो, मैं भी सुनूँ ?

'जी ठाकुर*-दर्शन को।

विस्मय में आकर वे बोले—'पर अभी तो किसी पूजा का समय नहीं है।'

'जी, वह ठाकुर नहीं, ये हैं रामकृष्ण परमहंस।'

'समझा, समझा, दक्षिणेश्वरवाले न !

'जी, हाँ।'

'जा ही रहे हो तो जाओ। मैं भी एक दिन छोटे बच्चे की बीमारी दूर करने का अनुरोध लेकर गया था उनके पास, सो वे क्या बोले जानते हो—'मुझे क्यों, उसी माँ को बोलो न ! आहा ! हा ! माँ को ही अगर बोलना था तो ठनठनिया की जाग्रत काली को छोड़ वहाँ पर क्यों जाता ?

*बंगला में ठाकुर शब्द का एक अर्थ 'देवमूर्ति' है।

मैंने सोचा कि अब समर्थन में कुछ कहना जरूरी है, अन्यथा अनुमति पाने में देर लगेगी, बोला—'जी, सो तो है ही।'

तुम तो समझोगे ही भट्टाचार्य, धान-कोदो देकर तो पढ़ा नहीं है, और फिर ग्रैजुएट भी हो। जा ही रहे हो तो जाओ, रुकावट नहीं डालूँगा; पर उस आदमी के भीतर कुछ भी नहीं है। बिल्कुल खाली। सुनो, और जो भी करना, पर उस स्कूलमास्टरी के चक्कर में न पड़ना।'

उस समय मैं भला कहाँ जानता था कि ठीक उसी रास्ते पर जाने की भूमिका तैयार हो रही है। नमस्कार कर मैं निकलने लगा। एक अखबार आगे बढ़ाकर वे बोले—'ले जाओ, धूप होगी, सिर पर लगा लेना, तुम्हारे पास छाता तो है नहीं।' मैंने सोचा—जो मालिक यह बात समझ सकते हैं कि साढ़े सत्रह रुपये मासिक वेतन में खाने-पीने के बाद छाता खरीदने भर को नहीं बचाया जा सकता, वे तो महा अनुभवी हैं।

उनका दिया हुआ समाचार-पत्र बगल में दबाकर मैं निकल पड़ा। पर हाय! तब वे कहाँ जानते थे कि अनजाने में उन्होंने स्वयं अपने ही हाथों अपना मारण-अस्त्र जुटा दिया है।

* * *

सभी लोग फुटपाथ पर खड़े होकर ठाकुर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैं भी उन्हीं के साथ खड़ा हूँ। इसी बीच गृहस्वामी ने मुझे देखकर नमस्कार और स्वागत किया। मैंने भी उत्तर में नमस्कार किया। सभी लोग फुसफुसा कर बातें कर रहे थे। उसी समय निकट ही एक घोड़ा-गाड़ी दिखी और सभी लोग चुप व सावधान हो उठे। गाड़ी खड़ी होते ही ठाकुर उतरे। गृहस्वामी ने उन्हें प्रणाम कर हम सब के साथ मिलकर उनकी अभ्यर्थना की।

मैंने पहले उनको सिर्फ फोटोग्राफ में ही देखा था। कुछ-कुछ वे वैसे ही थे, कुछ-कुछ नहीं भी। चित्र के साथ मनुष्य का प्रभेद होता है। देखा—शरीर पर एक कमीज, सभी बटन खुले हुए, धोती की लाँग का अंश कमर में लिपटा हुआ और पाँवों में एक जोड़ी पुरानी चप्पल। अर्धनिमीलित आँखें कहीं दूर लगी हुई थीं। बहुत कुछ यंत्र चलित के समान उन्होंने कमरे में प्रवेश किया। तख्त पर सफेद जाजिम बिछा हुआ है और फर्श पर साफ-सुथरी दरी है।

ठाकुर कमरे में जाकर चित्रलिखित-से खड़े हो गये। गृहस्वामी हाथ जोड़कर बोले—'ठाकुर! दया करके बैठिये।' पर उनके कान पर मानो जूँ तक न रेंगी। ठाकुर की निश्चलता देखकर सभी ने सोचा कि उनको भावसमाधि हो गयी है। सभी को मालूम था कि ऐसा उन्हें प्रायः ही हुआ करता है और उस समय चुपचाप इन्तजार करना पड़ता है। सभी निःशब्द हैं, निश्चल हैं। अचानक ठाकुर कमरे से बाहर निकलने को उद्यत हुए। गृहस्वामी बोल उठे— 'ठाकुर! आप बैठेंगे नहीं?

'नहीं, इस कमरे में नहीं।'

'क्यों प्रभु, क्या अपराध हुआ है?

इस कमरे में दुर्गन्धि उठ रही है।

सभी विस्मित हैं। कमरा अच्छी तरह धुला हुआ है और अभी भी धूप की सुगन्ध आ रही है। तब सभी ने मिलकर चारों ओर ढूँढ़ना शुरू किया। किसी-किसी ने तख्त के नीचे भी झाँककर देखा। कहीं भी गन्दगी का चिह्न तक न मिला।

'ठाकुर! हमलोग तो कहीं भी दुर्गन्ध नहीं पा रहे हैं।'

'तुम लोग बद्ध-जीव हो, भला कैसे पाओगे?

क्या अपराध हुआ है, दयाकर बतला दीजिये।

अचानक उन्होंने मेरी ओर देखा और बोल उठे—

'वो, वो, उधर से वह बुरी गंध आ रही है।'

मैं तो हक्का-बक्का रह गया। बाकी लोग भी विस्मित थे।

बोला—"प्रभु ! मैं तो स्नानकर शुद्ध-साफ कपड़े पहनकर आया हूँ।"

'नहीं, नहीं, छूना मत।'

मैं प्रणाम करने को आगे बढ़ रहा था कि वे पीछे हट गये। वे बोल उठे—'वह जो तुम्हारी बगल में वह क्या दबा हुआ है, वहीं से दुर्गंध उठ रही है।'

"प्रभु ! यह तो समाचार-पत्र है।"

"हाँ, हाँ, वही, फेंक डालो और जल्दी स्वच्छ होकर आओ।"

सभी विस्मित हैं और सबसे ज्यादा तो मैं खुद ही। एक बार मेरे मन में यह विचार भी कौंधा कि वहुत से लोग जो ठाकुर को पागल कहा करते हैं, तो क्या वह सही है ? पर तुरंत ही मैंने उस कुविचार को मन से निकाल डाला।

गृहस्वामी मेरे कान में बोले—"जाइये वाहर फेंक आइये।"

मैं बाहर जा समाचार-पत्र फेंककर हाथ-पाँव धो लौट आया। इसी बीच ठाकुर बिछौने पर बैठ चुके थे और कह रहे थे—इतनी देर बाद धूप की पवित्र सुगंध मिल रही है।

मेरी ओर देखते हुए वे बोले—"वह चीज कहाँ से आयी तुम्हारे पास ?"

"जी, मैं उसी समाचार-पत्र के दफ्तर में काम करता हूँ।"

"सर्वनाश; छोड़ो-छोड़ो ! अभी वह काम छोड़कर दूसरी आजीविका ग्रहण करो।"

"कौन-सी आजीविका, प्रभु ?"

"अध्यापन अति पवित्र वृत्ति है।"

"क्यों प्रभु, क्या शिक्षकों में शठ और दुश्चरित्र लोग नहीं हैं ?"

"हैं, हैं, सभी तरह के हैं, परन्तु वृत्ति है पवित्र। बाद में मेरी ओर नजर उठाकर बोले—जाओ बाबू, एक स्कूल-मास्टरी ढूँढ़ लो। (इसके बाद का कुछ अंश पानी पड़कर लिप गया है, अतः पाठोद्धार करना असंभव है। बाद का अंश दिया जा रहा है—संपादक)

घर लौटकर भोजन करने के बाद विस्तर पर लेटा, पर नींद नहीं आयी। वैसे नींद मुझे आसानी से आ जाया करती थी। सोचा—आखिर बात क्या है ? ठाकुर पर पहले से ही भक्ति थी और प्रथम-दर्शन के बाद और भी गाढ़ी हो गयी थी। अब उनके मुख से निःसृत पत्रकारिता की निंदा और शिक्षक-वृत्ति ग्रहण का उपदेश दोनों मिलकर मेरे मन में विचार का समुद्र मंथन कर रहे थे। समाचार-पत्र की नौकरी क्या इतनी जघन्य है कि ठाकुर अपनी दिव्य घ्राण-शक्ति से इसकी दुर्गन्ध पा गये ? तभी याद आया मालिक महाशय का एकदिन का उपदेश। एकदिन जब समाचार पत्र में जगह पूरी भरने के लिये थोड़ा सा मैटर कम पड़ गया था। क्या किया जाय पूछने पर उत्तर में उन्होंने कहा था—"वेंटिंग स्ट्रीट में एक आदमी को बैलगाड़ी से कुचल दो।"

"आपको कैसे मालूम हुआ, सर ?"

वे मस्तक को उँगली से स्पर्श करते हुए बोले—"समाचारों की सृष्टि यहाँ होती है।"

—"पर यदि कोई चुनौती दे तो ?"

—"अरे तुम भी कैसी बातें करते हो ! किसको पड़ी है यह सब करने की। और तुम भी भला क्या उसका उत्तर देने जाओगे। जाओ, ज्यादा गड़बड़ मत करो। जल्दी लिख डालो।"

वह समाचार गढ़ लेने के बाद भी थोड़ी सी जगह खाली रह गयी थी।

—'क्या करें सर' ?

—'उसका प्रतिवाद करो। दबकर मर जाने के समाचार में तुमने अवश्य ही देहाती आदमी को गाली दी होगी। बहुत अच्छा। अब शहरी गाड़ीवान के गाड़ी चलाने के कौशल की प्रशंसा करो। देखोगे जगह भर गयी है।'

लेटे-लेटे ये सब स्मृतियाँ ताजी हो रही थीं। ऐसी दोतरफा झूठ की तुलना नहीं। पहले कभी ऐसी बात सुनी ही न थी। उसके बाद याद आया हमारा चित्र छापने का ढंग। हमारे दफ्तर में मनुष्य-मूर्त्ति का सिर्फ एक ही ब्लाक है, उसी से सारा काम चलाना पड़ता है। दादा-भाई नौरोजी के आने पर जैसा काम चलता है वैसा ही एनी बेसेंट के आने पर भी। हाँ दाढ़ी के ऊपर एक मोटा कागज लगाकर छपाई करनी पड़ती है। दोनों ही चित्र समान रूप से अस्पष्ट होंगे, अतः पाठकों द्वारा पकड़े जाने की संभावना ही कहाँ है?

ये सब तो साधारण सी बातें हैं। इनमें बेचारे सत्य को छोड़, किसी दूसरे की कोई हानि नहीं होती। पर उसदिन की आत्मग्लानि याद आयी जिस दिन मालिक महोदय के तिरस्कार और मधुर झिड़की की वजह से 'मद्यपान के लाभ विषय पर सम्पादकीय लिखने को बाध्य हुआ था।

"अरे! अब यह कहने से काम कैसे चलेगा कि यह लिखना अनुचित है। उस आदमी से मैंने ढाई सौ रुपये नकद लिये हैं। उन्हें वापस करूँगा? रुपये भी तो अब बैंक में चले गये हैं, और तुम तो जानते ही हो कि मेरा बैंक-एकाउंट भी कथामाला के उस मित्र की गुहा के समान है, जिसमें प्रवेश के पदचिह्न तो हैं पर निकलने के नहीं। नहीं! बचपना मत करो। जाकर लिख डालो।"

साढ़े सत्रह रुपये मासिक के लोभ में लिखना पड़ा।

दूसरे दिन मालिक बोले—"ओ भट्टाचार्य! तुम्हारा 'मद्यपान के लाभ, पर वह लेख इतना युक्तिपूर्ण हुआ था कि कल एक बोतल से काम नहीं चला। कहाँ मिलीं इतनी युक्तियाँ? पीते-वीते हो क्या?"

यह सब भी यदि दुर्गन्धियुक्त न हो तो फिर दुर्गन्ध कहेंगे किसे? मन में जब इसी प्रकार की कसमकस चल रही थी उसी समय मेदिनीपुर के एक मित्र से सुना कि वहाँ के सरकारी उच्च विद्यालय के लिये एक ग्रैजुएट शिक्षक की आवश्यकता है। दूसरे ही दिन मैं मेदिनीपुर को रवाना हो गया।

◘

"आसन ग्रहण करते हुए श्रीरामकृष्ण ने देखा, एक संवादपत्र पड़ा हुआ था। संवादपत्र में विषयी मनुष्यों की बातें रहती हैं—दूसरों की चर्चा, दूसरों की निन्दा, यही सब रहता है, अतएव श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में वह अपवित्र है; उन्होंने उसे हटा देने के लिए इशारा किया। कागज (समाचार-पत्र) के हटाने के बाद उन्होंने आसन ग्रहण किया।"

—श्रीरामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृ० ८१

नारद-भक्ति-सूत्र

—श्रीमत् स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

द्वितीय अनुवाक

पराभक्ति का स्वरूप

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥ ७ ॥

निरोधरूपत्वात् (त्यागरूपा होने के कारण) सा (वह भक्ति) न कामयमाना (किसी वासना की पूर्ति में उपयोगी नहीं है) ॥७

भक्ति से किसी वासना की पूर्त्ति की सम्भावना नहीं है; क्योंकि भक्ति के उदय होने पर सारी वासनाएँ स्वयं मिट जाती हैं ॥६

लौकिक प्रेम जो है, वह काम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। काम के उदय होने से मन विषयों की चिन्ता में मग्न हो जाता है। किन्तु भाग्यवश किसी के हृदय में भगवत्प्रेम के उत्पन्न होने से उसके लिए फिर विषयों के भोग में मन लगाना संभव नहीं होता। तब फिर विषय-त्याग के लिए चेष्टा नहीं करनी होती—विषयों का अपने आप त्याग हो जाता है।

"जिसकी ठीक-ठीक ईश्वर-भक्ति है, वह शरीर, रुपया—इन सब के लिए आग्रह नहीं करता। वह सोचता है, देह-सुख के लिए, या लोक-मान्यता के लिए, या रुपये-पैसों के लिए फिर जप-तप क्या! ये सब अनित्य हैं, दो-तीन दिनों के लिए हैं।"

"भक्ति के मार्ग में अन्तः इन्द्रियों का निग्रह स्वयं हो जाता है, और सहज भाव से हो जाता है। ईश्वर के प्रति जितना प्रेम होगा, उतना ही इन्द्रिय-सुख स्वाद-हीन लगेगा।"

"बाघ जिस प्रकार घप-घप कर पशुओं को खा जाता है, उसी प्रकार अनुराग रूपी बाघ काम, क्रोध—इन सब रिपुओं को खा जाता है। ईश्वर में एक बार अनुराग होने से काम, क्रोध आदि नहीं रहते। गोपियों की यही अवस्था हुई थी। कृष्ण पर अनुराग हुआ था।

"प्रेम के दो लक्षण हैं। प्रथम—संसार विस्मृत हो जाता है। ईश्वर के प्रति इतना प्रेम होता है कि बाह्य शून्य हो जाता है। चैतन्यदेव वन को देखकर वृन्दावन समझते थे, समुद्र को देखकर श्रीयमुना समझते थे।

दूसरा लक्षण—अपनी देह जो इतनी प्रिय वस्तु है, इसके ऊपर भी ममता नहीं रहेगी; देहात्मबोध पूर्णतया चला जायगा।"

प्रेम के उदय होने से यदि शरीर का विस्मरण, संसार का विस्मरण हो गया तो फिर कौन-सी भोग-वासना और किस तरह मन में जगेगी? तब सभी वासनाओं का निरोध हो जाता है। यह नि[illegible] किस प्रकार का होता है?

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥ ८ ॥

तु (किन्तु) निरोधः (त्याग) [कहक [illegible]मझना होगा] लोकवेदव्यापारन्यासः (लौकिक औ[illegible] वैदिक कर्मसमूहों का परित्याग) ॥८

निरोध कहने से लौकिक और वैदिक कर्मसमूहों का त्याग या इन सब कर्मों में आसक्ति का त्याग समझना चाहिए ॥८

भक्त आयास पूर्वक कर्म-त्याग नहीं करते, किन्तु "ईश्वर के प्रति प्रेम होने पर कर्म का स्वयं त्याग हो जाता है। समाधि होने पर सभी कर्मों का त्याग हो जाता है।"

"जो रात-दिन ईश्वर का चिन्तन करता है, उसे संध्या करने की क्या जरूरत!"

"तीर्थ, गले में माला, आचार—ये सब शुरू-शुरू में करने होते हैं। तत्व-प्राप्ति होने पर, भगवान का दर्शन

होने पर, बाहर के आडम्बर धीरे-धीरे कम हो जाते हैं। तब केवल उनका नाम लेकर रहना होता है, और स्मरण-मनन करना होता है। जिन्होंने ईश्वर-दर्शन किया है उनके द्वारा फिर लड़के-लड़कियों को जन्म देना, सृष्टि का कार्य नहीं होता। धान बोने पर पौधा होता है, किन्तु उबाल कर सिद्ध किये हुए धान के बोने पर फिर पौधा नहीं होता!"

"कर्त्तव्य है किसी प्रकार ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाकर रहना। इसके दो मार्ग हैं—कर्मयोग और मनोयोग।

परमहंस की अवस्था में कर्म समाप्त हो जाता है। स्मरण-मनन रह जाता है। सर्वदा ही मन का योग रहता है। यदि कर्म करता है तो वह मात्र लोक-शिक्षा के लिए।

सतोगुणी व्यक्ति का स्वभावतः कर्म-त्याग हो जाता है, चेष्टा करने पर भी वह और कर्म नहीं कर पाता। जैसे गृहस्थ की स्त्री गर्भवती होने पर अधिक कार्य नहीं कर पाती है। जब तक गर्भ नहीं होता है तब तक सास उसे सारी चीजें खाने और सारे कार्य करने देती है। पेट में बच्चे के होते ही सास दिन-दिन उसके कार्यों को कम करती जाती है। दस महीने होने पर, बच्चे का अनिष्ट होगा—इसी कारण से और कोई कार्य नहीं करने देती। बाद में जब उसे बच्चा हो जाता है, तब उस बच्चे को लेकर प्यार-दुलार करने में ही दिन व्यतीत करती है। और दूसरा कर्म नहीं करना होता, घर-द्वार के कार्य सास, ननद, गोतनी ये सब ही करती हैं। ईश्वर-लाभ होने पर कर्म करना नहीं होता। मन भी उसमें नहीं लगता। तब केवल उनके ही दर्शन और सेवा करने में आनन्द मिलता है। पहले कार्य का बड़ा आडम्बर होता है। जितना ही ईश्वर की ओर आगे बढ़ोगे, उतना ही कर्म का आडम्बर कम होता जायगा। यहाँ तक कि, उनका नाम-गुण-गान तक बन्द हो जाता है। जैसे देखो न, ब्राह्मण भोजन में पहले खूब शोरगुल होता है। जितना पेट भरता जाता है उतना ही शोरगुल कम होता जाता है। बाद में केवल निद्रा—समाधि।"

"यदि उनके (ईश्वर के) ऊपर प्रीति होती है, तो यह होने पर, होम, याग-यज्ञ, पूजा—इन सब कर्मों की अधिक आवश्यकता नहीं रहती। जब तक हवा नहीं मिलती, तब तक ही पंखा की जरूरत होती है। यदि हवा स्वयं आवे, तब फिर पंखे की कोई आवश्यकता नहीं होती।"

"जो कुछ कर्म हैं, उनके समाप्त हो जाने से ही निश्चिन्त हुआ जाता है। गृहिणी घर के काज-कर्म और रसोई-पानी से मुक्त हो, सबको खिला-पिला कर, कंधे पर तौलिया रख पोखर के घाट पर देह धोने जाती है तब फिर रसोई घर की ओर नहीं लौटती—बुलाने पर भी नहीं आती।"

प्रेम के उदय होने से सारे कर्मों का किस प्रकार स्वयं क्षय हो जाता है वह श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों द्वारा कहे गये एक वाक्य में चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त हुआ है। भगवान ने जब गोपियों को यमुना तट का त्याग कर घर लौटने का उपदेश दिया तब उन सब ने कहा—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलात्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किंवा॥

भा० १०।२९।३४

'हे प्रिय, हमलोगों का मन तो परम आनन्दपूर्वक घर के कार्यों में आसक्त था, उसकी तुमने चोरी कर ली है। हमलोगों के हाथ सांसारिक कामों में लिप्त थे, वे हाथ अभी अवश हो गये हैं। और तुम्हारे श्रीचरणों के आश्रय का त्याग कर हमलोगों के पाँव एक डेग भी चलने को तैयार नहीं हैं। अब हमलोग किस प्रकार घर जायँ और वहाँ जाकर ही क्या करेंगी?'

आठवें सूत्र में निरोध कहकर विशेष रूप से त्याग

को लक्ष्य किया गया है। उसके होने पर क्या भक्ति में निषेध ही बड़ी बात है ? नहीं, ऐसा नहीं है।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च ॥९॥

[निरोध शब्द के द्वारा] च (और भी) तस्मिन् (ईश्वर में) अनन्यता (भेद-भाव का अभाव) तद्विरोधिषु (ईश्वर-विरोधी विषयों के प्रति) उदासीनता (उदासीन भाव) [समझना होगा] ॥९

प्रेम की अतिशयता से एक मात्र प्रियतम को लेकर व्यापृत रहने एवं इष्ट विरोधी सारे विषयों के प्रति उदासीनता के भाव को निरोध कहते हैं ॥९

भक्तों की समस्त इन्द्रियवृत्तियाँ ईश्वरोन्मुखी हो जाती हैं, फलस्वरूप भक्त तद्गत हो जाते हैं। इष्ट एवं उनकी सेवा, इन्हें लेकर आनन्द करने के अतिरिक्त भक्त को और कुछ ज्ञान-गोचर नहीं होता। अतः वे इष्टमय हो जाते हैं। भक्ति में इन्द्रियवृत्तियों के निरोध के लिए साधना नहीं करनी होती—वे सब स्वतः ही इष्ट की सेवा में नियोजित हो जाती हैं।

इस अनन्यता का लक्षण—"ईश्वरीय कथा के अतिरिक्त और कुछ सुनना अच्छा नहीं लगता 'ईश्वरीय कथा के अतिरिक्त और कुछ बोलना अच्छा नहीं लगता। जैसे सातों समुद्र, गंगा-जमुना नदी, सब में जल रहता है, किन्तु चातक वृष्टि का जल चाहता है। प्यास से छाती फटती जाती है, किन्तु दूसरा जल ग्रहण नहीं करेगा।"

भक्ति के उदय से विरोधी विषयों के प्रति उदासीनता का आना सहज हो जाता है। कितना प्रतिकार किया जाय ? और प्रतिकार करने लगने से इष्ट की विस्मृति होती है—'कच्चा मैं' के, राग-द्वेष आदि के प्रभाव में पड़कर कर्म करना पड़ता है। इसीसे भक्त इष्ट के भाव में विभोर होकर बाहर के सुख-दुःख के प्रति उदासीन रहते हैं।

भक्त का अपना सुख-दुःख जैसा कुछ नहीं रहता। और भक्त की स्वाधीन इच्छा भी कुछ नहीं रहती—इष्ट की इच्छा के साथ उनकी इच्छा एक हो जाती है।

गृहस्थाश्रम में रहकर भी इस अनन्यता और उदासीनता की प्राप्ति संभव है।

अन्याश्रयाणां त्यागः अनन्यता ॥ १० ॥

अन्याश्रयाणां (ईश्वर से भिन्न और सारे आश्रयों का) त्यागः (त्याग) अनन्यता (एकनिष्ठा भक्ति) [कहा जाता है] ॥१०

ईश्वर से भिन्न अन्य सारे आश्रयों के त्याग को कहा जाता है अनन्यता—एकनिष्ठा भक्ति ॥१०

"त्यागीजन कामिनी-कांचन से मन हटाकर उसे केवल ईश्वर को दे पाते हैं। वास्तविक त्यागी होने पर ईश्वर के अतिरिक्त उनलोगों को और कुछ अच्छा नहीं लगता। विषय-कथा होने पर वे उठकर चले जाते हैं, ईश्वरीय कथा होने पर सुनते हैं। ठीक-ठीक त्यागी होने पर स्वयं ईश्वर-कथा को छोड़कर अन्य बात मुँह में नहीं लाते। मधुमक्खी केवल फूल पर बैठती है—मधु खाने के लिए। दूसरी कोई वस्तु मधु- मक्खी को अच्छी नहीं लगती।"

जब किसी एक व्यक्ति का आश्रय ग्रहण करके उससे सारी वासनाओं की पूर्ति नहीं होती—और भी चाहने को, और भी पाने को काफी कुछ विषय बचे रहजाते हैं, तब मनुष्य अन्य आश्रय की खोज में लग जाता है। किन्तु भक्त देखते हैं, इष्ट ही उनकी एकमात्र गति, एक मात्र आश्रय हैं। इसीलिए उनके देह-मन की सारी चेष्टाएँ इष्ट को ही आश्रय बनाकर रहती हैं। भक्त देखते हैं—उनका इष्ट ही सभी राजाओं का राजा है, सभी देवताओं का देवता है। इसीसे वे किस की आशा से और किस वस्तु, किस व्यक्ति तथा किस देवता के पीछे जायँगे ? इसी एकनिष्ठा भक्ति के उदय से भक्त की समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों का निरोध हो जाता है। भक्त सब कुछ इष्टमय देखते हैं।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥गीता ९।१८

(क्रमशः)

दक्षिणेश्वर की मिट्टी

प्रस्तुति :—मनीष मोहन
छपरा ।

महर्षि अरविन्द आधुनिक युग के महान् आध्यात्मिक साधक, चिन्तक, मनीषी एवं उर्ध्वगामी विचारधारा के प्रस्तोता थे। वे दक्षिणेश्वर की मिट्टी को, जहाँ वर्त्तमान भारत के दो महान ज्योतिपुरुष—परमहंस श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द का प्रयागीय सम्मिलन हुआ था, बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उन दोनों के सम्बन्ध में महर्षि अरविन्द के उद्‌गार बड़े प्रेरक हैं।

श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के प्रति बहुत पहले से ही महर्षि अरविन्द अत्यन्त अनुरक्त थे। 'धर्म' नामक पत्रिका में श्री परहमहंस देव के संवंध में उन्होंने लिखा,—"जो पूर्ण हैं, जो युगधर्म के प्रवर्तक हैं और जो अतीत अवतारियों के समष्टिस्वरूप हैं उन्होंने भविष्य के भारत को नहीं देखा या इस संवंध में कुछ नहीं कहा, इस बात पर मेरा विश्वास नहीं। हमलोगों की यह निश्चित धारणा है कि जो बात उन्होंने मुख से नहीं कही उसे वह कार्य द्वारा सम्पन्न कर गये हैं। भविष्यत्-भारत के प्रतिनिधि को अपने सामने बिठाकर गठित कर गए हैं। भविष्यत् भारत के यह प्रतिनिधि थे स्वामी विवेकानन्द। बहुत से लोग सोचते हैं कि स्वामी विवेकानन्द का स्वदेश प्रेम उनका स्वतः स्फूर्त अवदान था। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह समझ में आ जाता है कि उनका वह स्वदेशानुराग उनके परम पूज्यपाद गुरुदेव का ही वरदान था।" वे आगे कहते हैं—

"स्वामी विवेकानन्द जन्मजात वीर पुरुष थे। वीरता उनका स्वभावसिद्ध गुण था। श्री रामकृष्ण देव उनसे कहा करते—'तुम तो वीर ठहरे।' वह जानते थे कि उनके भीतर वे जिस शक्ति का संचार करते रहे हैं, समय पाकर उस शक्ति की प्रकाशमयी कणिकाओं में भुवनभास्कर की किरणें विखरती रहेंगी। हमारे तरुणवर्ग को भी इस वीरत्व का साधन करना होगा। उन सबों को किसी की कोई परवाह किए बिना देश का कार्य संपादित करना होगा एवं अहरह इस भगवद्-वाणी को स्मरणपथ में जागृत रखना होगा। 'तुम तो वीर ठहरे।'

'धर्म' नामक पत्रिका में ही "भारतेर प्राणपुरुष श्री रामकृष्ण" शीर्षक प्रवंध में श्री अरविन्द ने लिखा, था, "विगत पाँच सौ वर्षों के अंतराल में श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव के समान दूसरा महान् पुरुष पृथ्वी में अवतीर्ण नहीं हुआ है।"

अलीपुर बम कांड मुकदमे के पहले श्री अरविन्द के वास स्थान में जवर्दस्त खाना-तलाशी हुई। इस प्रसंग में एक मजे की घटना घटी—दक्षिणेश्वर से कुछ पवित्र मिट्टी लेकर उन्होंने अपने घर में बड़ी श्रद्धा से ला रखी थी। पुलिस इसे बम का कोई मामला समझकर संदेह में पड़ गयी। श्री अरविन्द ने लिखा है "छोटे से कार्ड वोर्ड के बक्से में दक्षिणेश्वर की जो मिट्टी सुरक्षित थी, पुलिस ऑफिसर मि० कार्क ने उसे बड़े संदेह की भावना से देखा। उसे संदेह था कि यह कोई भयंकर विस्फोटक पदार्थ है। क्रार्क साहब का संदेह बिल्कुल निराधार था, यह नहीं कहा जा सकता, परंतु अंत में जाकर यही निष्कर्ष निकलता कि यह मिट्टी के सिवाय कुछ और नहीं है और इसे रासायनिक विश्लेषणकर्त्ताओं के पास भेजना सर्वथा अनावश्यक है।" दक्षिणेश्वर की पवित्र मिट्टी में जो इस युग की विस्फोटक शक्ति अंतर्निहित थी, इसका आध्यात्मिक प्रभाव जो दूर-दूर तक फैलने वाला था, श्री अरविन्द का इस पर अखंड विश्वास था। अध्यात्म-जागरण की यह महती प्रस्तावना उनकी दृष्टि में सुस्पष्ट रूप से झलक पड़ी थी। ◻